Chap-4

चतुर्थ अध्याय

एकांकियों में निरूपित मानव जीवन की समस्याएँ

मानव-जाति का समूचा इतिहास, चाहे वह किसी भी संस्कृति से सम्बद्ध रहा हो, इस सत्य की गवाही देता है कि मनुष्य ने परिस्थितियों के घेराव में स्वयं को कभी कठमुल्ला प्रमाणित नहीं किया। इतनी संस्कृतियों, विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक फैलने की क्षमता रखने वाली सभ्यताओं ने अपने अस्तित्व इसी बिन्दु पर खडे होकर उभारे हैं। इसका मूल कारण मनुष्य का अपनी धुरी की खोज में निरंतर प्रयासशील रहना है। आज तक मनुष्य ने अपनी धुरी की खोज अपने से परे हटकर की थी, लेकिन बीसवीं शती तक पहुँचते-पहुँचते उसे यह विश्वास होने लगा कि यदि उसे अपनी धुरी खोजनी ही है तो पहले स्वयं को समझना होगा और इस बिन्दु पर मनुष्य ने सबसे पहला कार्य, अपने आप पर प्रश्न-चिन्ह लगाने का किया। आज वह अपने समक्ष अपने आपको एक चुनौति मानकर खडा है और इस एक बिन्दु से अनेक बिन्दु निसृत हो रहे है। अनेक समस्याएँ जन्म ले रही हैं। अनेकों संदर्भो की खोज की जा रही है। जीवन की संकुलता के अनेकों आयाम खुल रहे हैं और यह समूचा अनुष्ठान एक प्रक्रिया के रुप में उभर रहा है। इस प्रक्रिया का ही एक स्तर वस्तुस्थिति की पहचान और उसके स्वीकार का है। मनुष्य अपने-आप में क्या है? अब तक उसे जो कुछ अपने सम्बंध में सही या गलत लगता रहा है या अपने आस-पास के परिवेश के सम्बन्ध में जो कुछ सच्चा या झूठा लगता रहा है, उसकी नये सिरे से पहचान शुरु हो गई है। इस प्रक्रिया का दूसरा स्तर, वस्तुस्थिति के स्वीकार के परे उस वस्तुस्थिति के वस्तुस्थिति रुप में होने के संगत कारणों की खोज है। वस्तुस्थिति का स्वीकार एक बात है और उस स्वीकार के पीछे संगत कारणों की खोज दूसरी बात। वस्तुस्थिति से वस्तुस्थिति तक पहुँचने की इस दोहरी प्रक्रिया के बीच दो मूल घुण्डियाँ हैं - एक नंगे यथार्थ के समक्ष उसके सीधे साक्षात्कार की है और दूसरी नंगे यथार्थ की निरंतर खोज की। नंगे यथार्थ को एक नंगी ऑख से देखने की क्रिया अधिक विषैली है।

आधुनिकता बोध के संबंध में विभिन्न विचारकों की धारणाएँ, अवधारणाएँ प्रस्तुत करते हुए उसका सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत है। डॉ. मेघ के शब्दों मे 'समाज व्यवस्था, संस्कृति, विचार विधि, चिन्तन पद्धति आदि एकान्वित होकर एक दूसरों को परिवर्तित करने की प्रक्रिया से जो अमूर्त पैटर्न बनेगा उसे आधुनिकता कहते हैं। उन्होंने आधुनिकीकरण, आधुनिक-बोध और आधुनिकता में सातत्य की बात बताकर लिखा है कि "एक समग्र आधुनिकता तो सामाजिक व्यवस्था का दर्पण, संस्कृति का मूल्यचक्र, विभिन्न समूहों की चिन्तन पद्धति तथा विभिन्न मनुष्यों की वृत्तियों का अमूर्त पैटर्न है। इसके अलावा वह आधुनिकीकरण अनिवार्यतः सम्बद्ध है, तथा व्यक्तियों या समूहों में उसका अपने-अपने ढंग से 'आधुनिक बोधों' द्वारा अनुकीर्तन होता है। इस तरह आधुनिकीकरण-आधुनिक बोध-आधुनिकता का एक सातत्य है।"[1] डॉ. धनंजय वर्मा ने अपनी परिभाषा में आत्मगत और वस्तुगत तत्वों की अतिवादिता को टालते हुए वृत्ति के साथ परिवेश को भी

महत्ता दी है, क्योंकि उनके मत में वृत्ति कुछ सीमा तक परिवेश के कारण बदलती है। वृत्ति के साथ ही बौद्धिकता, प्रौढ़ता और अन्तर्विवेक की आवश्यकता अभिव्यक्त की गई है। इस अन्तर्विवेक को फिर मानवता के साथ जोडा गया। आधुनिकता को व्यक्ति के एटीट्यूड और टैम्परामेन्ट में खोजते हुए लिखते है कि "आधुनिकता का धारणा और प्रत्यय से अधिक व्यक्ति की वृत्ति और बोध या दृष्टि से ही सीधे सम्बद्ध है। .. . निरन्तर नये होते चलने की गतिशीलता की .. चेतना और वृत्ति आधुनिक कही जायेगी,.... नये के प्रति एक तत्परता, उससे संपुछित और तटस्थ होकर बौद्धिक प्रौढ़ता प्राप्त अन्तर्विवेकाश्रित प्रतिक्रिया करने का स्वभाव, आधुनिक व्यक्ति की वृत्ति कही जायेगी, .. आधुनिकता काल सापेक्ष्य है और व्यक्ति के एटीट्यूड, टेम्परामेन्ट और उसके समूचे अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व से जुडा है।"[2]

डॉ. नगेन्द्र भी इस संकल्पना को एक साथ आत्मगत और वस्तुगत दोनों रुपों में मानते हैं। एक ओर इस अवधारणा को समय-सापेक्षता के साथ जोड़ते हुए कहते हैं कि समय-सापेक्षता का सम्बन्ध वर्तमान से है और वर्तमान हर युग में बदलता रहता है, इस कारण प्रत्येक युग अपने समय में आधुनिक है। समय-सापेक्षता का दूसरा अर्थ वे किसी विशेष काल बोध के सन्दर्भ में लेते हैं। एक ओर वे इसे दृष्टिकोण कहते हैं, जो युगीन दृष्टिकोण से भिन्न है, तो दूसरी ओर वे इस दृष्टिकोण पर समय क्रम के नियंत्रण को स्वीकारते नहीं हैं। अंत में, इसे समसामयिकता से जोड देते हैं। इस तरह वे आधुनिक शब्द को विभिन्न तीन अर्थो में प्रयोग करते हुए लिखते हैं कि "आधुनिक एक विशेष कालावधि का द्योतक है, भारतीय इतिहास में आधुनिक युग का प्रारंभ एक प्रकार से 18वीं शती के उत्तरार्द्ध से माना जाता है।... यूरोप के इतिहास में आधुनिक युग का प्रारंभ मूलतः 15वीं शती से, पुनर्जागरण के साथ ही हो गया था। ... इस कालवाचक अर्थ का दूसरा ही रुप है। जैसा कि शब्दार्थ से स्पष्ट है, आधुनिकता का संबंध वर्तमान से है, और चूँकि वर्तमान की धारणा समय सापेक्ष्य है, अतः आधुनिकता का यह रुप प्रत्येक युग में बदलता रहता है। सामान्य शब्दावली में आधुनिक यहाँ अतीत से भिन्न या नये का वाचक होता है। इस अर्थ में आधुनिक हमारे वर्तमान युग से ही सम्बद्ध नहीं रह जाता। प्राचीन इतिहास युगों के भी अपने-अपने आधुनिक चरण रहे होंगे, जो आज प्राचीन बन गये हैं, . . दूसरा अर्थ विचार परक है जिसके अनुसार आधुनिक एक विशिष्ट दृष्टिकोण मध्य युगीन विचार पद्धति से भिन्न एक नये जीवन दर्शन का वाचक है।"[3] प्रत्येक युग में जीवन-दृष्टि परिवेश से प्रभावित होती है। परन्तु आज व्यक्ति परिवेश के प्रति जितना प्रबुद्ध है, उतना पहले कभी नहीं था। आधुनिकता का विचार-परक अर्थ में डॉ नगेन्द्र आधुनिकता को एक मिश्र धारणा कहते है, जिसमें अनेक तत्व मिले हुए हैं। उनका कहना है कि "इनमें प्रथम और आधारभूत तत्व है अपने देशकाल के साथ जीवंत एवं सचेतन सम्बन्ध.. विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिकता का दूसरा प्रमुख तत्व है . जीर्ण पुरातन का त्याग, संशोधन तथा पुनः मूल्यांकन की पद्धति से नव-नव रुपों के विकास की

आकांक्षा, वैचित्र और नवीनता के प्रति आकर्षण आधुनिकता के सहज अंग हैं।"[4] वैज्ञानिक दृष्टिकोण के स्थान पर विवेक का नियंत्रण हुआ। आधुनिकता परंपरा को स्थिर तत्व मानकर नही चलती, परंपरा को गतिमान तत्व मानकर उसमें परिवर्तन और परिवर्धन करती है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, उस पर समय के क्रम का नियंत्रण नहीं है। इस अर्थ के अनुसार आधुनिकता की वह विशिष्ट धारणा व्यावहारिक जीवन-दृष्टि और विवेक युक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण का वाचक है उस पर समय का क्रम नही है। इसे समझाने के लिए उन्होने कहा है कि मध्ययुग के दार्शनिकों की अपेक्षा अरस्तु अधिक आधुनिक है। शंकराचार्य की अपेक्षा बौद्ध का जीवन-दर्शन आधुनिक है। इस प्रकार आधुनिकता समसामयिकता से भिन्न एवं विशिष्ट बन जाती है। आगे, डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं कि, "आज के सीमित संदर्भ में आधुनिक का एक संकुचित अर्थ "समसामयिक" भाव उभरकर आया है। इस संदर्भ में आधुनिकता का तात्पर्य है "वर्तमान का युग बोध"। यहाँ दृष्टि वर्तमान पर ही केन्द्रित रहती है। आज की स्थिति का यथार्थ परिज्ञान ही आधुनिकता का आधार है।

मध्ययुगीन स्थापित व्यवस्था को अस्वीकार करके मनुष्य पुनर्जागरण की प्रेरणा से गतिशील बना है। फलस्वरुप बौद्धिक क्रान्ति हुई है तथा जीवन को देखने का दृष्टिकोण पूरी तरह बदल गया है। तर्क और विवेक की कसौटियों पर प्रत्येक वस्तु और स्थिति को परखा जाने लगा। मनुष्य द्वारा किसी भी स्थापित वस्तु का उसी रुप में ग्रहण करने से इंकार किया जाने लगा। मनुष्य में प्रबुद्धता के कारण पुनर्जागरण की स्थिति पैदा हुई, जिसके फलस्वरुप उसके समस्त भाव-बोध में अंतर आया। यह भाव-बोध मध्ययुगीन और प्राचीन भाव-बोध से इतना भिन्न था कि इसे नये नाम से अभिहित करने की आवश्यकता पडी। मध्ययुग तक जीवन स्थापित और रुढ़िप्रिय होने के कारण सामन्तवाद का प्रचलन था जिससे मनुष्य के विकास में बाधा पैदा होती रहती थी। क्योंकि मानवीय जीवन पर धर्म का एकाधिकार था। जीवन के समस्त मूल्य धर्म की कसौटी पर कसे जाते थे। सोलहवीं शताब्दी अर्थात् पुनर्जागरण से इस स्थिति में अंतर आया और यहाँ से आधुनिक युग का प्रारंभ माना जाता है। मनुष्य ने विकास के दौर में पदार्पण करके भाव-बोध में परिवर्तन और प्रबुद्धता के कारण सतर्कता का एक नया आयाम इसके साथ जोड दिया। कोई भी युग शायद अपने आधुनिक होने के प्रति इतना सचेत नही रहा है जितना कि वर्तमान युग।[5] विज्ञान ने विश्वास के बजाय परीक्षण, श्रद्धा के स्थान पर तर्क तथा आस्था की जगह विश्लेषण पर बल दिया है। फलतः मानव नियति के संबंध में हमारी मध्ययुगीन धारणा बदल गई है। सृष्टि के निर्माण को भौतिक जगत से जोडकर उसके यांत्रिक नियम खोज निकाले गए।[6] विज्ञान ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि भौतिक जगत ही नहीं, वरन् मनुष्य का अन्तर्मन भी कुछ नियमों के द्वारा परिचालित होता है। विज्ञान ने मनुष्य को प्रकृति के कठोर नियंत्रण से मुक्त कर सारी प्रकृति को मनुष्य के अनुकूल बनाने के मार्ग बताये। व्यक्ति को केन्द्र मानकर सारी चीजें देखी और परखी जाने लगीं जिसके

पलस्वरुप हमारे समस्त भाव-बोध में एक परिवर्तन आया। इस युग का टेंपर (स्वभाव) ही बदल गया, उसकी दृष्टि परिवर्तित हो गई, चीजों को देखने समझने और जिन्दगी को जीने की बुनियादी तौर-तरीके ही बदल गये हैं। विज्ञान ने हमारे जीवन में परिवर्तन तो प्रस्तुत किये हैं, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस बोध को विज्ञान ने आंतरिक स्तर पर बदल दिया है।[7] इसके अतिरिक्त आधुनिक बोध के निर्माण में रशियन राज्य क्रान्ति, फ्रैंच राज्य क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

मध्ययुगीन जीवन-दृष्टि, चिंतन भावभूमि तथा विश्वासों की भित्ति धर्म पर आधारित होने के कारण सम्पूर्ण मानवजीवन इसी से नियंत्रित था। ऐतिहासिक जीवन को पारलौकिक जीवन की तैयार स्वरुप मानने के कारण हर मानदण्ड का स्त्रोत किसी न किसी पारलौकिक सत्ता में माना गया था। कालान्तर में वैज्ञानिक विकास के कारण धर्मशास्त्र की सृष्टि करना और मानव-ज़ीवन की व्याख्याओं पर आँख मूँदकर विश्वास करने से इंकार किया जाने लगा। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया कि भौतिक जगत् न तो ईश्वर के संकल्प का परिणाम है और न किसी पारलौकिक सत्ता की इच्छा से नियंत्रित है। उसके अपने यांत्रिक नियम हैं और उन्हीं के आधार पर बिना ईश्वर चल सकता है साथ ही यह भी सिद्ध हो गया कि सृष्टि अपने नियमों से चलती है।[8] इस दृष्टि से प्राणियों का विकास अपने नियमों से होता है। वस्तुतः आज का मनुष्य भावनात्मक स्तर पर लगभग संवेदनाशून्य हो गया है। भावना का स्थान बौद्धिकता ने ले लिया है। इसलिए मनुष्य नियतिवाद से दूर हटकर संसार के चाक्षुस जगत को ही मूल मानने लगा है। मनुष्य का विश्वास और उसकी आस्था ईश्वर से हट गई है। इस सोच के मूल में आज के जगत् की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। व्यक्ति वैज्ञानिक स्तर पर यह सोचने लगा है कि जब हम अपनी अन्तः प्रेरणा से सारे कार्य करते हैं। जब जैसा करते हैं वैसा ही परिणाम पाते हैं। केवल आस्था से या ईश्वर के प्रति समर्पित होकर हम अपने जीवन की दैनिक आवश्यकता भी पूरी नहीं कर पाते तो फिर जीवन के मूल में हम स्वयं, अर्थात् 'मैं' प्रबल है, व्यक्ति की अस्मिता उसके होने में है। इसलिए वह स्वयं अपना नियामक है। इस प्रकार उसका अहं प्रबल हो गया है। अहम् की प्रबलता के परिणामस्वरुप व्यक्ति स्वयं रास्ता बनाने लगा है और उस बनाये हुये रास्ते पर चलने लगा है। राह के इस निर्माण में चाहे कंटीली झाडियाँ हो चाहे गन्ध बिखेरते वनफूल हों, वह सबको काटकर युग के अनुकूल मजबूत पक्की काली सडक बनाने लगा है। इस प्रकार उसके सोचने का तरीका और कार्यपद्धति परिवर्तित हो गई है। जिसके मूल में उसकी मनःस्थिति है।

आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे मनुष्य अपने परम्परागत जीवन-पद्धति से मुक्त होकर अधिक संकुल तांत्रिक और तेज गति से चलने वाली पद्धतियों की ओर जाता है। अर्थात् "Modernization

is the process by which individuals change from way fo life to a more complex, technologically advanced and rapidly changing style of life"[9] इसी प्रक्रिया के कारण हमारी मध्ययुगीन दृष्टि तथा पारम्परिक मानवीय सम्बंधों में अंतर आया है। अर्थात् इसके कारण समाज, संस्कृति और व्यक्तित्व मे अभूताग्र परिवर्तन हुए। इस प्रक्रिया का हमारे दैनिक जीवन से सतई सम्बंध है। मनुष्य के अन्तर्गत सदैव बौद्धिक प्रक्रिया चलती रहती है। इसलिए वह जो कुछ भोगता है, झेलता है, उससे टकराता है, संघर्ष करता है। उसका प्रभाव उसके ऊपर पडता है। इसके परिणामस्वरुप उसका मानस तनावग्रस्त हो जाता है। यह तनाव उसे विश्लेषण करने पर विवश करता है। जब अपने ही विचार अपने अन्तः में घात-प्रतिघात करते हैं तो उससे एक नयी दृष्टि मिलती है। यह नयी दृष्टि ही उसका अन्तर्बोध जब उसके लक्ष्य के, उसकी भावना के, उसकी कल्पना के विपरीत होता है तब वह विद्रोही हो जाता है। विद्रोह की यह प्रक्रिया एक नयी जीवन दायिनी शक्ति को जन्म देती है। इस शक्ति को जब व्यक्ति अपने भीतर अनुभूत कर उससे प्राप्त दृष्टि को मानक समझने लगता है, तब उसी के अनुरुप उसका व्यवहार और क्रियाकलाप हो जाते हैं। इस विद्रोही क्रिया-कलाप को जीने का परिणाम होता है कि उसकी सारी पुरानी मान्यताएँ, आस्थाएँ और विश्वास टूट जाते हैं। परिणामस्वरुप उसका व्यक्तित्व स्थापित मानकों से अलग हटकर परिवर्तित हो जाता है। इसी परिवर्तन के परिणामस्वरुप उसके जीने का ढंग भी परिवर्तित हो जाता है। व्यापक स्तर पर हुआ यह परिवर्तन जिस नयी संवेदना को जन्म देता है, लेखक उसे आत्मसात् कर लेता है और अपने लेखन में ढालता है।

परिवर्तन एक निश्चित प्रक्रिया है। यह सृष्टि के जीव में ही नहीं बल्कि समूची सृष्टि में होती है। प्रकृति भी परिवर्तनशील है। इसे कवि पंत ने 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' कहा है तो कवि प्रसाद ने लिखा है "प्रकृति के यौवन का श्रृंगार करेंगे कभी न बासी फूल।"[10] प्रकृति ने भी एक ऐसे पौधे का सृजन किया है, जिसका नाम है - 'पुनर्नवा'। इस पौधे को काटने देने पर यह फिर से ताजा हो उठता है। यही स्थिति व्यक्ति, समाज और परिवेश की है। वह निरन्तर बासी से ताजा होता रहता है। जिस तरह साँप अपनी पुरानी कैंचुल छोड देता है और नयी केंचुल धारण करता है, पतझड में पेड अपने पत्ते झाड़ देते हैं और वसंत के नवपल्लवों से अपना श्रृंगार करते हैं, उसी तरह जीवन का श्रृंगार नूतनता से होता है। तभी तो मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है- "तू परिवर्तनशील, समय अनुगामी।"[11] अर्थात् परिवर्तन समयानुकूल चलता रहता है। परिवर्तन की इसी प्रक्रिया का नाम नूतनता है। व्यक्ति इस नूतनता का आग्रही होता है। इसलिए वह नवीनता की ओर आकर्षित होता है। इस आकर्षण के परिणामस्वरुप उसमें परिवर्तन आ जाता है। व्यक्ति में परिवर्तन से तात्पर्य, उसके बाहरी ढॉचे में परिवर्तन से नहीं है। व्यक्ति समाज का एक अंग है और समाज सोद्देश्य होता है। इसलिए व्यक्ति का जीवन भी सोद्देश्य है। यह उद्देश्य व्यक्ति के बुद्धि, विवेक से नियंत्रित होता है।

क्योंकि उसके क्रिया-कलापों को बुद्धि ही संचालित करती है। इस प्रकार व्यक्ति के चिन्तन, उसकी जीवन शैली, उसके सामाजिक सम्बन्ध, उसकी राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थितियाँ बदलती रहती हैं।

आज का समाज विज्ञान के बढते हुए प्रभाव का समाज है। जीवन की गति इतनी तेज है कि हर व्यक्ति गहरी आपाधापी में है। वह इतनी तेज भाग रहा है कि एक-दूसरे को केवल पार कर आगे बढ जाने की प्रवृत्ति बलवती हुई है। क्योंकि पूरे समाज का विश्व के पैमाने पर औद्योगिक विकास हुआ है। आज सुई से लेकर वायुयान तक औद्योगिक संस्थानों में बनने लगे हैं। इस औद्योगिकरण का परिणाम यह हुआ कि स्थिर चित्त के साथ, एकाग्र होकर हाथों से कसीदाकारी का युग समाप्त हो गया है। मनुष्य श्रम और समय की बचत कर, मनुष्य का विकल्प भी रोबोट और कम्प्यूटर में ढूँढने लगा है। इस तरह जीवन की गतिशीलता, समय की गति के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने लगी है। इस औद्योगिकरण के परिणामस्वरुप एक-एक कारखाने के पास छोटे-छोटे शहर बसने लगे हैं। इस प्रकार महानगरीय सभ्यता का विकास हुआ है। महानगरीय सभ्यता दुनिया के देशों से प्रभावित है, क्योंकि महानगरीय सुविधा के आकर्षण ने तथा रोजी-रोटी की समस्या ने मनुष्य को गाँव छोडकर शहर की ओर आने के लिए मजबूर कर दिया है। गाँव टूट रहे हैं, शहर बस रहे हैं। स्थिति यह है कि कोलकाता और मुम्बई जैसे महानगरों के एक-एक घर में, एक छोटे गाँव जितनी संख्या रहने लगी है। परिणामतः नाई, धोबी, लुहार, बढई, माली और चमडे का काम करने वाले परम्परागत पेशे के लोग गाँव छोडकर शहर में अपना व्यवसाय करने लगे हैं। परिणामतः गॉव से इनके द्वारा बनने वाले सामानों तथा खेती एवम् कुटीर उद्योगों में इनके श्रम का लोप हो गया है। इस प्रकार औद्योगीकरण के परिणामस्वरुप नगरीकरण बढ़ा है। औद्योगीकरण का विकास जितना गहरा होगा, पूंजीवाद का विकास उतना ही तेज होगा। परिणामतः सर्वहारा की संख्या भी बढेगी और इस तरह नये-नये वर्ग बनेंगे। फिर इन वर्गो मे प्रतिद्वन्दिता तो होनी ही है। इस तरह समाज का एक वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया से गुजरने के कारण नयी क्रांति को जन्म देगा। यह क्रांति समाज को परिवर्तित करती है। महानगर, यातायात के विकास और सामरिक समृद्धि के कारण विश्व के लोगों के सम्पर्क में आसानी से आ जाते हैं और लोगों की सभ्यता तथा संस्कृति को नजदीक से अनुभव करते हैं। इसलिए उनकी अपनी सभ्यता परिवर्तित हो जाती है, और वे विश्व के अन्य देशों की सभ्यता से प्रभावित होकर अपनी जीवन-शैली में एक आरोपित परिवर्तन करने लगते हैं। इस परिवर्तन का परिणाम यह होता है कि लोक मूल्य टूटने लगते हैं।

आधुनिकीकरण आधुनिकता-बोध का लक्षण है, तो प्रेरक है- दृष्टि एवं मानसिकता। दृष्टि के कारण

लक्षण उभरते हैं और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया घटित होती है तथा लक्षणों के विकास से दृष्टि परिवर्तित होती है। वैचारिक स्तर पर आधुनिकता बोध नहीं उभर पाता। औद्योगिकरण आधुनिकता बोध नहीं है। किन्तु आधुनिकता-बोध का एक लक्षण जरुर है। केवल आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से आधुनिक दृष्टि निर्माण नहीं होती है। अर्थात् केवल बाह्य लक्षणों को स्वीकार या मूर्तिकरण की प्रक्रिया आधुनिकता बोध नही है। "Man can not be really modern unless he accepts modern values alongwith the tools of modernization"[12] अर्थात् मनुष्य तब तक आधुनिक नहीं होगा जब तक वह आधुनिकीकरण के साधनों के साथ आधुनिक तत्वों को स्वीकार नहीं करेगा। आधुनिकता के मूल में वैज्ञानिक दृष्टि है, जो किसी सत्य को उसके अंतिम या चरम-रुप में स्वीकार करने से परहेज करती है। दूसरे शब्दों में यह 'प्रश्नचिन्ह की निरन्तरता' है और इसीलिए 'प्रक्रिया' है।[13] "The problem of choices is central for modern man, to be modern means to see lfie as alternatives, preferences and choices."[14]

समसामयिकता बोध का तात्पर्य तत्कालीन दृष्टि या बोध होता है। अतैव किसी भी विशेष काल या युग की तत्कालीन परिस्थितियों का एक यथातथ्य चित्रण ही समसामयिक बोध कहलाता है। समसामयिक परिस्थितियाँ, दृष्टि तथा मूल्यों का चित्रण करने वाला साहित्य की तत्कालीन या समसामयिक कहलाता है। डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि समसामयिकता-बोध से उनका तात्पर्य देशकाल के दायित्व के साथ-साथ उस क्षण की गहरी तीव्रानुभूति की ग्राह्यता जो परिस्थितियों से उपजती है और बिना किसी पूर्वाग्रह के सहज सामयिक औचित्य के साथ व्यक्त होती है।"[15] आधुनिक एकांकीकार मोहन राकेश ने समसामयिकता बोध के संदर्भ में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं कि, "Contemporariness her is a phenomena of the mind that gives a particular direction to its faculties and makes it see and interpret things in a light that emerges from the events and attributes of the age."[16]

अनिश्चित और सामान्य जीवन का ऐसे नाट्य-शिल्प में बॉधना जिसका कुछ भी निर्धारित और निश्चित न हो, जीवन से साक्षात्कार कर, उसमें गहरे उतरकर, वास्तविक और मानवीय चरित्रों और कथा प्रसंगों को ढूँढना, प्रतिष्ठित और स्थापित को अस्वीकार कर, नवीन कला-मूल्यों की निजी तलाश करना समसामयिक नाटककार का कर्तव्य कर्म रहा है..... ।"[17]

आधुनिक काल में नाट्य-रचना का वास्तविक और गहन संकट तब उपस्थित हुआ, जब एकांकीकार

के समक्ष यथार्थ और सम्पूर्ण जीवन आ खड़ा हुआ जिसके माथे से उसका समस्त जीवनेत्तर गायब था, उसकी सारी उदात्तता, सरलता और आनन्द भावना उसके तन-मन से धुल चुकी थी।' इब्सन, शॉ, प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र और "अश्क' के सामने एक पुनरुत्थान का या सामाजिक वैयक्तिक समस्याओं का आदर्श रहा है। रचना को समसामयिक और आधुनिक कहने के लिए हमें कृति से बाह्य ढाँचे से हटकर रचनाकार के दृष्टिकोण और उसकी मूल संवेदना को देखना होगा। इस दृष्टिकोण से देखने के कारण तथा कथित आधुनिक और समसामयिक विषयों, प्रसंगों और पात्रों को लेकर लिखे गये अनेक एकांकी-नाटक अभी-अभी खोदकर निकाले गये "फौसिल" की भाँति पुरातन और आदिम प्रतीत होते हैं, जबकि ऐतिहासिक-पौराणिक पृष्ठभूमि में लिखे गये अनेक नाटक आधुनिक भाव बोध और समसामयिक जीवन की दस्तावेज बन जाते हैं।

वर्तमान परिस्थितियों और परिधियों में संघर्षरत मानव जीवन एक विशेष प्रकार के साहित्य की अपेक्षा करता है। आज उसके अनुभव का परिच्छेद विराट हो चुका है उसका ज्ञान सागर सी विशालता और गंभीरता को प्राप्त कर चुका है। बौद्धिकता अब उसके सिर पर सवार है। ज्ञान-विज्ञान के हिंडोले में बैठा वह धरती और आकाश के झीने आवरणों को हटाकर उसके गर्भ में निहित तथ्यों को देखने के लिये उतावला है। ऐसी परिस्थितियों में उसके लिये ऐसे साहित्य का प्रत्यक्षीकरण होना अनिवार्य है जो उसे उसकी राह पर लगाये। प्राचीनता के केंचुल का परित्याग वह उसी प्रकार कर रहा है जैसे सर्प हर छः मास के बाद। प्रकृति तक को परिवर्तनशील रुप में देखते हुए समाज के लिये यह संभव नहीं कि वह स्थिर रहे। परिवर्तन सृष्टि का अकाट्य नियम है। जैसे कि हम पूर्व चर्चा कर चुके हैं। आधुनिक एकांकी ने निर्विवाद रुप से व्यक्ति-चेतना को महत्व दिया है। आज व्यक्ति को उसके परिवेश में देखा जा रहा है। प्रधानता व्यक्ति को दी जा रही है तथा समाज सदर्भित होकर सामने आ रहा है। व्यक्ति मन की जटिलता के बोध के माध्यम से सामाजिक सम्बन्धों की संश्लिष्टता को संकेतित किया जा रहा है। आधुनिक एकांकी पढ़ते समय सामान्यतः ध्यान व्यक्ति पर जाता है।[18] आज का व्यक्ति खोया-खोया, टूटा-टूटा अथवा अपने को अजनबी करता हुआ दिखाई पडता है। उसकी इस वर्तमान मनःस्थिति का कारण सामाजिक विघटन है। अतः वह अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है।

मानवीय जीवन की वैविध्यपूर्ण झाँकियों का आकलन साहित्य की सभी विधाओं में दृष्टिगोचर होता है। चुँकि साहित्यकार स्वयं एक सामाजिक प्राणी होता है अतः वह साहित्य-रचना के क्षणों में अपने परिकर और संभव परिवेश को अवश्य ही सामने रखता है, फिर वह अपनी मौलिक प्रतिभा एवं कल्पना शक्ति के द्वारा

अपने चतुर्दिक व्याप्त समस्याओं को अपनी रचनाओं में समाविष्ट करता है। मानव-जीवन समस्याओं से घिरा होता है। जीवन को उनसे पृथक् नहीं किया जा सकता। इन समस्याओं से जूझते हुए ही अन्त में वह अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। इसलिये संघर्ष का ही दूसरा नाम जीवन है। आज का युग विषम समस्याओं का युग है। परिस्थितियों के साथ नित नवीन समस्याओं का सामना करने का युग है। एकांकीकार जीवन की विविध समस्याओं से प्रभावित रहता है। उनकी रचनाओं में भी वह उससे प्रभावित दिखाई देता है।

समस्या का स्वरुप विवेचन :

संस्कृत भाषा के सम् उपसर्ग तथा अस् धातु के संयोग से 'समस्या' शब्द निष्पन्न हुआ है। सम् का अर्थ है-एकत्र तथा अस् का अर्थ है 'फैंकना' या 'रखना' अर्थात् एकत्र रखना या करना। समस्या शब्द आजकल जिस व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह कुछ भिन्न है। अंग्रेजी में इसे प्राब्लेम कहते हैं।

स्वरुप :

समस्या एक प्रक्रिया है जिसमें द्वन्द्वात्मक स्थिति है। 'हेगेल' के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्तानुसार : एक विचार आता है और उसी विचार के अनुरुप अवस्थाएँ पैदा होती हैं। दूसरा विचार आता है वह पहले वाले विचार से टक्कर लेता है। फिर दोनों विचारों के टक्कर से तीसरा विचार उत्पन्न होता है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में जिस क्रम से हम तत्बोध पर पहुँचते हैं वे तीन सोपान हैं-वाद, प्रतिवाद तथा समवाद।"[19] समस्या के संदर्भ में जब द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को लागू किया जाता है तो यह प्रश्न उठता है कि परस्पर विरोधी एवं विषम परिस्थितियों के संघर्ष से जिस तीसरे तत्व की उत्पत्ति होती है, वह समस्या ही है। परस्पर विरोधी एवं विषम परिस्थितियों में समस्या का उद्भव होता है। समस्त विषम स्थितियो को अपने में समेट कर वह एक गुत्थी के रुप में उपस्थिति होती है। समस्या किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित न होकर समूह या समाज से सम्बन्धित होती है। वह समाजमूलक होती है। समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। कोई भी समस्या ऐसी नहीं हो सकती जिसका हल संभव न हो। समस्या के जन्म के साथ ही उसके हल की परिस्थितियाँ भी जन्म ले चुकी होती हैं या उत्पन्न होने की स्थिति में होती हैं। इस संबंध में मार्क्स के विचार दृष्टव्य है- "मनुष्य जाति हमेशा अपने सामने उन्हीं समस्याओं को रखती हैं, जिनका वह समाधान कर सकती है, क्योंकि जब हम और भी गहराई के साथ देखते हैं तो हमेशा हम यह पाते हैं कि समस्या तभी उत्पन्न होती है, जब उसके समाधान के लिये या तो वह मौजूद है या उनका जन्म होने ही वाला है।"[20]

परस्पर विरोधी स्थितियों के संघर्ष से समस्या का उद्भव होता है। जल और वायुमण्डल के समान समस्या भी प्रत्येक स्थिति में विद्यमान रहती है। परन्तु इसका आभास चेतना के विकास के स्तर पर ही होता

है। इसे अच्छी तरह समझने के लिए हम प्रसिद्ध दार्शनिक हेगेल के 'होना न होना एक है' सिद्धान्त को ले सकते हैं। इस सिद्धान्त को हम 'समस्या' के उद्भव के सम्बन्ध में लागू कर सकते है। समस्या तो हर स्थिति में विद्यमान रहती है, परन्तु उसकी अनुभूति हमें चेतना के स्तर पर ही होती है, तब तक नही। दो विरोधी स्वभाव की शक्तियों के मेल से 'चेतना' उत्पन्न होती है। "जब एक बार चेतना एवं विवेक शक्ति जागृत हो जाती है, तो समाज में व्याप्त विषमताएँ, विडम्बनाएँ और परस्पर विरोधाभास उस चेतना के प्रकाश मे स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। तब हमारे विचार एवं मान्यताओं पर जबरदस्त प्रहार-सा होता है। फलतः समस्याएँ उद्भूत होकर तीव्रतर हो जाती हैं। तभी हम यथार्थ या 'परम-सत्य' के दर्शन करने लगते हैं। ..... समस्या की तीव्रता की स्थिति ही उसके हल की स्थिति होती है।"[21]

एक ऐसा समय था, जब राजा, चाहे कितना ही क्रूर विलासी या दुष्ट क्यों न हो प्रजा उसको ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर उसकी पूजा करती थी। उसी प्रकार नौकर अपने मालिक जो सदा उसका शोषण-दहन करता था। उसको अपना सर्वस्व समझकर श्रद्धा की भावना से प्रेरित होकर उसकी सेवा करता था। भारतीय नारी की भी यही कहानी है। बच्चों को ईश्वर का वरदान समझकर उनकी संख्या वृद्धि में गौरव समझा जाता था। परन्तु समय के परिवर्तन एवं ज्ञान-विज्ञान के उन्मेष से जन-साधारण में नवचेतना का विकास हुआ। फलतः अनेक समस्याएँ उभरकर हमारे सम्मुख खडी हो गई। चेतना के विकास एवं समस्याओं की तीव्रता ने हमारे परंपरागत विचारों एवं मान्यताओं पर प्रहार किया। वर्ग चेतना पैदा हुई। जन साधारण के तेवर बदले, तनाव पैदा हुआ और संघर्षो के फलस्वरुप सभी क्षेत्रों में क्रांति हुई। राजनीति में प्रजातंत्र की स्थापना, समाज में समाजवाद, परिवार में समता एवं परिवार-नियोजन की भावना उत्पन्न हुई। अनेक दुःखों, त्रासों एव पीडाओं से मानव-जाति को मुक्ति मिली।

"समस्या का अस्तित्व उतना ही पुरातन है, जितना कि मनुष्य का अस्तित्व। आदि युग में मनुष्य के अस्तित्व के साथ ही समस्या उद्भुत हुई होगी। यदि आदि युग में समस्या न होती तो मनुष्य सभ्यता का विकास भी संभव न होता। शरीर और छाया या आत्मा एवं शरीर का जो नित्य एवम् शाश्वत सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध समस्या एवं मनुष्य जीवन का है। सबसे पहले मनुष्य जीवन, जब अस्तित्व में आया होगा, तब उसके सम्मुख भूख एक विकट प्रश्न के रुप में खडी रही होगी, तब समस्या रही होगी 'आहार' की। इसी समस्या ने उसके शरीर के अंगों को हरकत प्रदान की होगी। फलतः उसने श्रम करके कन्द-मूल फल आदि प्राप्त किये होंगे। शिकार की अवस्था तो बहुत बाद में आई होगी। इस प्रकार जीवन एवं समस्याओं का विकास साथ-साथ हुआ।"[22]

वैदिक युग में क्रांति दृष्टा ऋषि-गण अपने युग की समस्याओं से परिचित थे और उन्होंने जनता को उनसे परिचित भी कराया था। ऋग्वेद में ऐसे-ऐसे ऋषियों की रचनाएँ संकलित हैं जो युद्ध और राजनीति से लेकर अन्नोत्पादन तक सभी विषयों पर अपने अनुभवों और उपदेशों से जनता को परिचित करा गये।[23] मेक्सीम गोर्की मनुष्य और उसकी समस्याओं को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि उसकी (मनुष्य की) पीठ के पीछे अतीत के बादल घुमड़ रहे हैं और सामने विकट समस्याओं के जाल बिछे हैं। "आकाश के असीम विस्तार में टिमटिमाते तारों की तरह उसकी समस्याएँ भी अनगिनत और असंख्य हैं। मगर उसकी यात्रा का कोई अन्त नहीं।"

'आवश्यकता' आविष्कार की जननी है, परन्तु आवश्यकता का एहसास समस्या के ऊपर आने पर ही होता है, इस प्रकार आवश्यकता की जननी समस्या सिद्ध होती है। मनुष्य-जीवन की यात्रा के समान ही समस्याओं का भी अंत नहीं। दोनों की यात्रा समानान्तर चलती रहती है। जैनेन्द्र ने जीवन के लिए द्वैत-स्थिति अनिवार्य बताते हुए समस्या को इस प्रकार परिभाषित किया है- धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य जैसे जोडीदार शब्दों की स्थिति को जीवन से समाप्त कर दिया जाएगा। जीवन की ज्योति को, उसके वर्चस्व को बढ़ाना है तो इस अंतिम द्वैत के बोध की ओर आत्मा को तीव्रतर होने देना होगा। इस प्रकार द्वैत वेदना में से उस शक्ति का उदय होगा, जिसमें से पराक्रम और पुरुषार्थ फलित होता है। समस्या एक जीवन है। समस्या है, इसलिए यत्न-प्रयत्न हैं।[24] "चेतना के स्तर पर जब परिस्थितियाँ विषम होकर उलझ जाती हैं तो स्वयं में समस्या उत्पन्न हो जाती है। इसकी स्थिति सहज होती है, जो मनुष्य को संघर्ष के लिए प्रेरित करती है। संघर्षात्मक स्थिति की प्रक्रिया ही समस्या होती है- द्वैत स्थिति, चेतना और संघर्ष।"[25]

हिन्दी एकांकियों में निरुपित मानवीय समस्याएँ :

एकांकी गद्य-साहित्य की एक बडी सक्षम और समर्थ विधा है। जैसा कि विगत पृष्ठों पर स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतेन्दु काल से साहित्य लेखन में जो वैचारिक परिवर्तन आया था, इसने इस एकांकी विधा को सर्वाधिक प्रभावित किया था। एकांकी कला लोकरम्य कला है अतः इसमें मनुष्य की सामान्य जीवन की समस्याओं को जब संवेदना के स्तर पर लोकमंचित किया जाता है तब साधारण व्यक्ति उससे अवश्य ही प्रभावित होता है। एकांकीकार जब किसी एकांकी का सृजन करता है तब वह उसकी पूर्व भूमिका पहले से निर्मित कर लेता है और उस भूमिका में वह अपने साथ-साथ संपूर्ण सामाजिक परिवेश को अनुबंधित रखता है। अब चाहे एकांकी का विषय ऐतिहासिक हो, सांस्कृतिक हो, धार्मिक हो, सामाजिक हो अथवा राजनीतिक रचनाकार अपने साथ-साथ उस वैविच्य परिसीमा में उन सभी संभावित घटनाओं को प्रस्तुत करता है जो

सामान्यतः व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करती है।

मानव-जाति का जो अध्ययन सांस्कृतिक इतिहासकारों ने किया है, वह युग-युगान्तरों में समय-समय पर होनेवाली संक्रांत-स्थितियों का ही प्रतिपादन करता है। इसमें सभ्यताओ एवं सस्कृतियों की विभिन्न कडियों के आपसी टकराव एवं द्वन्द्व की भी सूचना मिलती है। लेकिन, इन सारी ऐतिहासिक संक्रान्त स्थितियों में कभी भी प्रश्नचिन्ह का इतना सशक्त और मर्मान्तक प्रहार उपलब्ध नहीं होता है। स्पष्ट है कि उन साक्रान्त-स्थितियों ने कभी भी हमारे जीवन और समाज को वैश्विक-भूमिका के अन्तर्गत आमूल-चूल रुप में परिवर्तित नही किया। वे द्वन्द्व और टकराव इतने ठोस थे ही नहीं कि हमारे जीने की समूची स्थितियां बदल जातीं। मनुष्य का सोचने का नजरिया उन्नीसवीं और बीसवी शती के बीच कुछ इस तेजी से बदला है कि पिछली समूची इतिहास प्रणाली अवरुद्ध हो गयी है। विशेषतः द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रलयंकारी विनाश एवं आतंक ने मनुष्य जाति की सामूहिक एवं सार्वभौमिक सत्ता तथा अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाकर संक्रांति की एक विशिष्ट भूमिका खडी की है। अब तक इतिहास मुसोलिनी एवं हिटलर के आतंक के बोध को ही गहराता था, लेकिन आज द्वितीय विश्वयुद्ध के भयंकर परिणामों में ऊब-चूभ रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के अणुबम का प्रयोग इस युद्ध की समाप्ति का कारण तो किसी तरह बन गया था, लेकिन अणुबम के बाद 'थर्मोन्यूक्लियर वार', 'मिसाइल्ज' तथा ऐसे ही बडे-बडे प्रक्षेपणास्त्रों के निर्माण ने मानव-जाति के लगभग समूचे प्रतिशत पर अपने विस्फोटक एवं विषैले दंश की छाप छोड़ दी है। मानव-जीवन के इस भ्रमजालिक फैलाव के बीच मानव स्वयं उस दृश्य का सामना कर रहा है, जबकि लगभग सभी मूल्य एक परिवर्तन-शक्ति के शिकंजे में फँसे हुए हैं और इनकी हत्या या इनका स्वतः स्खलित होना बहुत निश्चित है। रोला मेय के शब्दों में – "हमारी संस्कृति में चिन्ता के एक भरपूर फैलाव का निश्चय ही एक तथ्यपरक कारण यह है कि हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं, जबकि समूची सामाजिक मान्यताएँ अपने पूर्ण परिवर्तन में हैं और हमारे बीच एक विश्व मर रहा है और दूसरा नया विश्व अभी जन्म नहीं ले सका।"[26]

आज के मनुष्य की स्थिति इससे अलग और परे नहीं है। संत्रास की ये गभीर स्थितियाँ हैं, जिन्होंने मानव-जीवन को विभक्त कर दिया है। इस विभक्त मानव-जीवन ने समाज की तथाकथित नैतिक प्रतिभाओं का चेहरा खण्ड-खण्ड कर दिया है और व्यापक मानवीय भूमिकाओं में साधारण तथा असह्य भौतिक तथा सामाजिक परिवेश उभारा है, जिसके किसी अंत की ओर इंगित नहीं किया जा सकता। आज के वैज्ञानिक युग में समाज का परंपरागत रूप शीघ्र परिवर्तन होने लगा है। हमारी सांस्कृतिक मूल्यो के स्वरुप आज का मानव अपनी परंपरा से अपने आपको लुटा हुआ अनुभव करता है। इसी से अनेक समस्याएँ मानव और

समाज के सामने खडी है। अर्थात् सामाजिक समस्याएँ, राजनीतिक समस्याएँ, आर्थिक समस्याएँ, धार्मिक समस्याएँ, सांस्कृतिक समस्याओं आदि से सम्बन्धित कितनी समस्याओं का सामना हमें नित्य करना पड़ता है।

सामाजिक समस्या और उसका स्वरुप :

विश्व में ऐसा कोई समाज नहीं है जो समस्याओं से मुक्त हो। प्रत्येक समाज में कुछ-न-कुछ समस्यायें अवश्य रहती हैं। सामाजिक समस्या से अभिप्राय उन सामाजिक दशाओं एवं परिस्थितियों से लगाया जाता है जो समाज की सुदृढता सामंजस्य एवं सामाजिक मूल्य व्यवस्था में अवरोध उत्पन्न करती हैं। सामाजिक समस्यायें समाज से सम्बंधित होती हैं। समस्या समाज सापेक्ष होती हैं। समाज में उपस्थिति विषम परिस्थितियाँ, शोषण की प्रक्रिया, अबाध गति से घटने वाली घटनाएँ कुचक्र, व्याप्त बुराइयाँ सामाजिक समस्याओं के अन्तर्गत आती हैं।

सामाजिक समस्या की व्याख्या :

सामाजिक समस्या की व्याख्या प्रसिद्ध समाज शास्त्रियों ने की है । सेलजनिक का कथन है – "यह मानवीय सम्बंधों की वह समस्या है जो समाज को गंभीर चुनौती देती है अथवा वह उससे लोगों की महत्वपूर्ण महत्वाकांक्षा का विरोध करती है। अर्थात् 'समस्या' के लिए एक चुनौति होती है।" हारटन और लेसले के अनुसार - "सामाजिक समस्या वह स्थिति है, जो बहुत से लोगों को अनुचित रुप से प्रभावित करती है और जिसके निराकरण के लिए सामूहिक कार्य की आवश्यकता होती है।" उसी प्रकार मेटिल तथा एलडरिज ने भी सामाजिक समस्या के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। "सामाजिक समस्याएँ तब उत्पन्न होती हैं जब प्रतिहिनता के कारण अधिक संख्या में लोग अपनी अपेक्षित सामाजिक भूमिकाओं के कार्य में असमर्थ होते हैं।"

सामाजिक समस्याओं का स्वरुप –

सामाजिक समस्याओं का स्वरुप अत्यंत विशाल है जिसका कोई ओर-छोर नहीं है। समस्याए निरंतर जन्म लेती हैं , बढती हैं एवं अबाध गति से इसका प्रसार होता है। इसके लिए प्रतिबंधात्मक उपाय भी किये गये थे - किये जा रहे हैं, एवं किये जायेंगे किन्तु समस्या नित नये ढंग से जन्म लेती है। समाज एक अमूर्त परिकल्पना है जिसमें व्यक्तियों के समूह की कल्पना की जाती है। इस समूह की मूल ईकाई मानव है। मानव विकास के विभिन्न चरणों में निःसंदेह रुप से उसके बौद्धिक तथा भावनात्मक, क्रिया-कलापों का महत्वपूर्ण

स्थान है। विवेकशील मानव प्राणी, सामाजिक संस्था के निर्माण की ओर जब कभी प्रवृत्त हुआ उसका परस्पर आदान-प्रदान कुछ नियमों में परिवर्तित होने लगा। वही क्रम आगे चलकर सामाजिक रुढ़ियों में बदल गया। मानव स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर ही पूरा जीवन बिताता है। मनुष्य अपने क्रिया-कलापों तथा परस्पर सम्बन्धों से एक विशिष्ट प्रकार का सामाजिक जीवन जीता है। इसमें हमेशा परिवर्तन तथा नूतनता का आभास हमें मिलता है जो सामाजिक जीवन के उन्नयन हेतु आवश्यक होता है। इसमें रुकावट तथा रुढिवादी विचार अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म देते हैं। कुछ क्रांतिकारी इन समस्याओं का निराकरण करने का प्रयास करते हैं। सामाजिक समस्याएँ कई प्रकार की होती हैं जो अपने वृहदकाय स्वरुप में होती है। प्रमुख सामाजिक समस्याएँ कई निम्नलिखित रुप से स्पष्ट की जा सकती हैं -

* समाज में नारी स्वातंत्र्य की समस्या, नारी-पुरुष की समानता की समस्या, बच्चों के संरक्षण की समस्या, अवैध प्रेम की समस्या, घर-बाहर की समस्या, विवाह-विच्छेद की समस्या, संयुक्त परिवार की समस्या आदि। इनके अलावा नारी समस्याओं के अनेक रुप मिलते हैं- विधवा समस्या, दहेज समस्या, अनमेल विवाह समस्या, वेश्या समस्या, नारी के साम्पतिक अधिकारों का प्रश्न या भारतीय नारी के सम्मुख आर्थिक स्वावलम्बन की समस्या आदि। इसके अलावा और भी ऐसी कई सामाजिक समस्याएँ हैं जिसका प्रचलन पहले था। यदि आज भी कहीं व्याप्त हैं, तो बहुत कम। यथा- बहुविवाह समस्या, पर्दा प्रथा, सती प्रथा, नारी विक्रय की समस्या, या वर्णाश्रम व्यवस्था की समस्या या अछूत समस्या, रुढ़ि रीतियाँ और अंधविश्वास।

डॉ. एन. आई. नारायण ने सामाजिक नाटक की व्याख्या देते हुए लिखा है कि "हम सामाजिक नाटक उन्हीं को कहेंगे जिनका विषय, पात्र, संवाद, वातावरण आदि नाटक के सभी अंग हमारे वर्तमान सामाजिक जीवन से ही संबद्ध हों।"[27] डॉ. रमा सेन गुप्ता लिखती हैं, "जिन नाटकों में अलौकिक, ऐतिहासिक, सामयिक व भविष्य की घटनाओं व व्यक्तिमन का इस रुप से चित्रण होता है कि वे सामाजिक पहलू पर प्रकाश डाल सकें, वह सामाजिक नाटक कहलाते हैं अर्थात् नाटक के देशकाल की परिस्थिति कुछ भी हो अगर उसमें सामाजिक व्यवस्था तथा व्यक्ति-मन की आकांक्षाओं के संघर्ष का चित्रण प्रमुख हो तो वह सामाजिक नाटक की सीमा के अन्तर्गत आ जाता है।"[28] सामाजिक नाटकों का विषय जनसाधारण का जीवन ही होता है। फलतः नाटककार उस जीवन का तथा उस जीवन से सम्बन्धित समाज की रुढियों और परम्पराओं का आकलन कर, उनके गुण-दोषों का निर्देशन कर उसका समाधान खोजता है। नाट्यकारों की भाँति हमारे एकांकीकारो की भी यही प्रवृत्ति रही। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज तथा प्रार्थना-समाज के सांस्कृतिक

आन्दोंलन, सामाजिक सुधार तथा नव-जागरण की चेतना ने हिन्दी एकांकीकारों को प्रभावित किया, फलतः उनके एकांकियों में समाज-सुधार तथा नवोत्थान की मंगलकारी भावना निहित है। इन एकांकियों में अनमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह आदि का खण्डन कर विधवा-विवाह का प्रचार किया गया है। पारिवारिक विसंवादिता को सहज ढंग से प्रस्तुत किया गया है। तद्उपरांत मद्यपान, जुआ, वेश्यागमन, अंध विश्वास, पुरुष तथा स्त्री की मनोविकृति, स्त्री की दुर्गति तथा ग्राम्य-शोषण को उपजीव्य बनाकर समाज की विकृतियों एवम् विषमताओं की ओर संकेत किया है।

आधुनिक युग यांत्रिकता, औद्योगीकरण, भौतिक समृद्धि, हृदय की संकीर्णता और मूल्यों के विघटन का युग है। बाह्य सम्पन्नता के पीछे आत्मा की दरिद्रता झाँक रही है, ऊपरी तड़क-भडक के नीचे मानवता कराह रही है। विज्ञान ने जिस स्वर्णिम आभा का विश्वास दिलाया था, वह मुलम्मा सिद्ध हो रही है। लोगों के नेत्रों पर से भ्राँति का पर्दा उठ रहा है, इस मोहभंग की स्थिति में निराशा, कुंठा, संत्रास का वातावरण बनना स्वाभाविक है। मूल्यों के विघटन, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार, हिंसा के ताण्डवनृत्य और सांस्कृतिक ह्रास ने मन को विषादाच्छन्न कर दिया। आधुनिक जीवन की विकृतियों, विसंगतियों और विद्रुपताओं से हृदय संत्रस्त और क्षब्ध हो उठा। ऐसी मनोदशा में जो रचनाएँ लिखी गयीं उनमें गहन सांस्कृतिक पीड़ा, संत्रास, अवसाद और निरर्थकता बोध के स्वर मुखर हो उठे हैं। आधुनिक भारतीय जीवन को अनेकानेक घटनाओं ने प्रभावित किया है।इस घटना ने भारतीय जीवन को बहुत दूर तक प्रभावित किया। आशंका और अविश्वास के वातावरण को जन्म दिया। स्त्री-पुरुष के संबंधों की आदिम स्तरीय स्थिति का नग्न प्रदर्शन उभर कर आया। ईट-गारे से बने मकानों के साथ-साथ नैतिकता के बडे-बड़े महल भी धड़ाम से जमीन पर आ गिरे। इसी वातावरण में से ईश्वर और धर्म के प्रति अविश्वास तथा बौद्धिकता के प्रति विश्वास का जन्म हुआ। हमारी सांस्कृतिक मूल्यों के स्वरुप आज का मानव अपनी परंपरा से अपने आपको लुटा हुआ अनुभव करता है। इसी से आज अनेक समस्याएँ मानव और समाज के समक्ष खडी हैं।

जनसाधारण के जीवन से सम्बन्धित एकांकियों को सामाजिक एकांकी की श्रेणी में रखा जा सकता है। एकांकीकार मानव जीवन से संबंधित समाज की परंपरागत रुढियों का आकलन कर उनके गुण-दोषों का निर्देशन कर उसका समाधान खोजते हैं। आज हमारा जीवन समस्याओं के आल-जाल से घिरा हुआ है। जीवन में समस्याएँ एक-दो नहीं हैं अनेकों हैं। समाज की दुःखदी रगों को पहिचानने के लिए आलोचक की भाँति मर्मभेदी दृष्टि चाहिए। समाज-सुधार, सांस्कृतिक आन्दोलन एवं नवजागरण की चेतना ने एकांकीकारों को प्रभावित किया। फलतः उनके एकांकियों मे नवोत्थान की मंगलकारी भावना निहित है। आज मानव

जीवन के साथ अनेक समस्याएँ जुड़ गई हैं। कदम-कदम पर हमें एक अलग ही तरह की, अर्थात् नई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अतः समाज में निहित समस्याओं का चित्रण एकांकीकारों ने अपनी एकांकियों में किया है। जितनी भी गंभीर समस्याएँ हैं - लगभग उन सभी समस्याओं का चित्रण हम एकांकियों मे निहित पाते हैं। जैसे- स्त्रियों से सम्बन्धित समस्याएँ, परिवारों से सम्बन्धित समस्याएँ, शोषण चक्र, बालकों से सम्बन्धित समस्याएँ, परिवारों से सम्बन्धित समस्याएँ। अन्य अनेक समस्याएँ है जो मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

अतः इन सामाजिक समस्याओं को एकांकीकारों ने अपनी एकांकियों में गंभीरतापूर्वक लिया है तथा हमारा ध्यान उनकी भीषणता की ओर निर्दिष्ट किया है। समस्याओं की गहराई में जाने की इच्छा रखनेवाले एकांकीकारों के लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि वह अपने पात्रों के मानस की गहराई में जायें, उनकी विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करे। पात्रों की आशा-आकांक्षा, राग-विराग के साथ हमारा साधारणीकरण होता है। परिणामतः ऐसे पात्रों के जीवन की आलोचना करके एकांकीकार ने जिन समस्याओं की ओर इशारा किया है, वे समस्याएँ अंत में हमारी ही समस्यायें सिद्ध होती हैं। समाज में जो विकृति है, वह व्यक्ति की कुचेष्टाओं का परिणाम है।

सामाजिक विषयों का प्रतिपादन करनेवाले समस्या एकांकी बृहत् संख्यो में लिखे गए हैं। भारत के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में पाश्चात्य् विचारधारा के प्रभाव से क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। हमारे एकांकीकारों ने अपने सामाजिक एकांकियों मे अन्तर्जातीय एवं अन्तर्प्रान्तीय दृष्टिकोण, मतभेदों और जर्जरित रुढियों को दूर कर हमारा ध्यान अनेक उपेक्षित सामाजिक विषयों की ओर आकृष्ट किया तथा अनेक पुरानी समस्याओं पर उदार दृष्टिकोण से विचार किया। हिन्दी एकांकी समाज के प्रति तीव्रता से सजग हुआ। सामाजिक समस्या-एकांकियों में अनेक प्रवृत्तियाँ नए रुप में हमारे समक्ष आई हैं। प्राचीन युग के एकांकीकारों ने जिन सामाजिक समस्याओं को केवल मनोरंजन या समाज सुधार मात्र के लिए चित्रित किया था, उनमें भावुकता प्रधान थी, किन्तु इस युग के चित्रण में बुद्धि तथा तर्क ने वह स्थान ग्रहण किया। एकांकीकार पुरानी समस्याओं को गहराई से देखने लगे तथा प्रत्येक तत्व पर बौद्धिक प्रकाश डालने लगे। ये एकांकी ऊपर सतह पर ही अवलम्बित नहीं रहते, प्रत्युत समाज और व्यक्ति के आन्तरिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। इनका सृजन भावुक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया स्वरुप हुआ था। इस युग की बौद्धिकता उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण हुई, जो वैज्ञानिक आविष्कारो तथा महायुद्ध के दबाव के कारण अभिवृद्धि पर था। यह बुद्धिवाद लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या एकांकियों में प्रकट हुआ है। समाज की अनेक कुरीतियो का चित्रण तथा उन

पर पर्याप्त व्यंग्य द्विवेदी युग में हो चुका था। बेकारी, किसान, मजदूर समस्या, सामाजिक संस्थाओं की आलोचना, गरीबी-अमीरी का संघर्ष, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, भ्रष्टाचार, वेश्यागमन, नौकर और मालिक समस्याएँ आदि अनेक सामाजिक समस्याओं पर बहुत से एकांकी लिखे गए। उनके चित्रण में व्यंग्य, कड़ुवाहट और समाज सुधार की वृत्ति प्रकट होती है।

समाज में नारी का स्थान :

अनादिकाल से पुरुष में स्त्री रके प्रति तुच्छता का विचार रहा है। सभ्यता के उत्कर्ष में भी स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा नहीं हुआ। स्त्रियाँ एक अचिन्तय काल से उसी जाल में फँस रही हैं। नारी का स्वातंत्र्य छिन गया है। एक बार स्त्री जब पुरुष के अधीन हो जाती है तो उसे अपने आपको भूलना पड़ता है, पुरुष की ऑखों के इशारे पर उसे नाचना पडता है। इस प्रकार स्त्रियाँ आदि काल के पौरुष की यही तो निशानी है कि वह स्त्री को अबला बनाए। पुरुष की दृष्टि में न तो नारी के गौरव का कोई अर्थ है और न उसके समर्पण का। ऐश्वर्य, पद, मर्यादा के आडम्बर की रचना करनेवाले पुरुष ने नारी के साथ सदा ही छल और विश्वासघात किया है। सचमुच आज भी भारतीय समाज में नारी की दशा दयनीय है। हमारे समाज में नारी को सम्मानपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त है। उसका कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं है। उसका व्यक्तित्व पति में निहित है। वह पति की वस्तु है, जिसका वह स्वेच्छानुसार उपयोग कर सकता है। वह पति की चेरी है, सहचरी नहीं। गृहदासी है, मिनी नहीं। आज्ञापालिका है, सहयोगिनी नहीं। वासना-तृप्ति का साधन है, आत्मोन्नति का नहीं। मनोरंजन की सामग्री है, आत्म-संस्कार की नहीं। किन्तु आज की नारी पुरुष की अकरुण आज्ञा की डोरी में बलि-पशु की भॉति बँधने को तैयार नही है। आज का पुरुष समुदाय, अपनी अहमन्यता के दर्प में एंठे रहने की स्थिति में नहीं रह गया है। स्त्रियों के प्रति न्याय हो, उन्हें स्वतंत्रता प्राप्त हो, समाज में उनके लिए भी आदर का स्थान सुरक्षित रहे - ये ऐसे कुछ नारे हैं जिनको आज एक कान से सुन कर दूसरे से उडाया नहीं जा सकता। प्राचीनकाल मे नारी को बहुत कोमल और नाजुक समझा जाता था। उसके सोचने-समझने का ढंग भी एक निश्चित सीमा तक ही रहता था, और जिसका पूरा जीवन चारदीवारों के बीच में ही खत्म हो जाता था। आज वही कोमल नारी अपने समाज में स्वयं की स्वतंत्रता के लिए जोर लगा रही है और अपना स्थान बनाने के लिए प्रयत्नशील है।

दहेज की समस्या :

स्वाधीनता के बाद भारतीय समाज में कोढ जैसी बीमारी के रुप में चर्चित 'दहेज-प्रथा' का विकराल रुप हमारे सामने आया है। दहेज-दानव के कारण ही कन्या का जन्म अशुभ माना जाता है और नारी उत्पीडन

की घटनाएँ होती हैं। यद्यपि इस संबंध में नियंत्रण हेतु कानूनी प्रावधान हैं तथापि व्यवहार में वह अप्रभावी ही है। 'दहेज' लेन-देन के कारण अपराध यदि पंजीबद्ध भी हो जाए तो भी विवाह की वैधता अप्रभावी रहती है।"[29] किसी ने सच ही कहा है कि 'नारी ही नारी की सबसे बडी दुश्मन' होती है। दहेज-प्रताडना का शिकार होनेवाली नारी भी किसी की बेटी होती है और उसे प्रताडित करने वाली नारी यह भूल जाती है कि उसकी भी कोई बेटी है। उसे तो केवल अपना ध्यान रहता है, बाकी सारे नाते वह भूल जाती है, क्योंकि वह सास के पद पर प्रतिष्ठित होती है - भारतीय स्त्रियों में दो ही सम्प्रदाय पाए जाते हैं एक सास सम्प्रदाय दूसरा बहू संप्रदाय तथा 'अधिकतर सास सम्प्रदाय के सदस्यों को अपनी बहुओं से ज्यादा बेटियाँ प्यारी लगती हैं। खून पानी से गाढा जो होता है।"[30] श्री के.पी. सक्सेना कन्या के जन्म के बाद उसके नामकरण पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं - "जिस देश में बेटियाँ इतनी हल्की होती हों कि उनके वजन का पासंग बराबर करने के लिए साथ में टी.वी., फ्रिज, स्कूटर बॉधना पडे वहाँ कौन बाप लाड़ प्यार से बेटी का नाम आजादी रख सकता है ?"

दहेज की यह स्थिति यह है कि लडकी वयस्क होने से घबराती है। विवाह योग्य अवस्था होने पर आत्मीयजन उसकी शादी के लिए कन्या के पिता पर दबाव डालना प्रारंभ कर देते हैं। मुहल्ले और परिचय की महिलाएँ ताना देना शुरु कर देती हैं। लड़की में बुराई ढूँढने का काम आरंभ हो जाता है, फिर शुरु होता है लडकी की नुमाईश और मोल-भाव का सिलसिला। माता-पिता और परिजनों के संवाद सुनकर लडकी सिर धुनने लगती है - 'हे प्रभु तुमने मुझे लड़की क्यों बनाया और बनाया भी तो यह सोलह वर्ष की कविप्रिया आयु क्यों दी।"[31] विवाह के समय परिवार की यह स्थिति होती है कि दहेज की मार से लोग लड़की की शादी में बुरी तरह टूट जाते है। घर गिरवी रखे जाते हैं। गाय, बैल बिक जाते हैं, स्थिति कभी-कभी यह होती है कि घर से कन्या के विदा होने के साथ ही साथ घर भी समाप्त हो जाता है। पिता और भाईयों की आँखों से ऑसू सूख जाते हैं। कन्या के विदा के समय की स्थिति ऐसी हो जाती है कि डोली निकलने पर ऐसा लगता है मानो कि किसी की अरथी जा रही है। अनमेल विवाह करके, किसी तरह दहेज का जुगाड़ करके भी पिता और भाई निश्चित नहीं हो पाते। ससुराल पहुँचने पर कूलवधू का अद्भूत स्वागत होता है- 'कहने लगते हैं, कार के बिना लडकी किस काम की है? बेचारी लडकी की ससुराल में वह गत बनती है कि तोबा ही भली। सास ताने मार-मारकर अधधुना कर देती है। कहती है नाम बडा और दर्शन छोटे, ऐसा दहेज तो कबाड़ी भी नही देते।"[32] दहेज के कारण नारी का करुण अंत हो जाता है, किन्तु समाज अविचलित मूक दर्शक बना रहता है। जो राष्ट्र वनस्पति में सूअर की चर्बी को लेकर उद्वेलित हो जाता है उसे इस नारी-देह के जीवित अग्नि-संस्कार की गंध का अहसास भी नहीं होता, और तब व्यंग्यकार कह उठता है- "एक बेटी, एक दुल्हन कोई वनस्पति में मिली चर्बी थोडे ही है जिसे लेकर संसद अपना सिर धुने। एक बेटी के जलते हुए या निर्यात होते

हुए शरीर की कीमत गाय या सुअर की चर्बी से बहुत कम है। हम चर्बी का आयात बंद कर सकते हैं... दुल्हन निर्यात नहीं।"[33] इस प्रथा के दुष्परिणाम का शिकार, मध्यम वर्ग के व्यक्ति के लिए अर्थाभाव में पुत्री का विवाह करना लोहे के चने चबाने-सा हो गया है। उक्त समस्या का हिन्दी एकांकीकारों ने अपने एकांकियों में सहज अंकन किया है।

डॉ. रामकुमार वर्मा जी ने 'एक तोले अफीम की कीमत' शीर्षक एकांकी में दहेज प्रथा और अनमेल विवाह की समस्या को उठाया है। यह एक मनोरजक प्रधान सामाजिक समस्यापूर्ण एकांकी है। प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से डॉ. वर्मा जी ने विवाह की समस्या के एक पहलू को उपस्थित किया है और हिन्दुओं को अपनी विवाह-संस्था में अपेक्षित सुधार करने की प्रेरणा प्रदान किया है। प्रस्तुत एकांकी में मुरारी की समस्या यह है कि वह शिक्षित है, पाश्चात्य शिक्षा के संस्कारों से पूर्णतः प्रभावित है और अपने विवाह के विषय में अंतिम निर्णय स्वयं लेने का अधिकार चाहता है और उसका पिता उस जमाने का है जब शादी की बात घर के हाथ में रहा करती थी और जब उसने कह दिया सब ठीक है तो बेटे ने भी सिर हिला दिया। इससे आगे बढने पर दहेज की समस्या आती है। मुरारी का पिता अपने बेटे के विवाह का रोजगार करना चाहता है। मुरारी का पिता इस मानी में अकेला थोडे ही है? रामधन ने कहा है कि 'बडे लोगों की शादी तो रोजगार है ही। इसी रोजगार का शिकार है- विश्वमोहिनी, जो इतिहास प्रसिद्ध स्नेहलता की परंपरा में अपना बलिदान करने के लिए विवश है।

समस्या को इस रुप में प्रस्तुत करने के बाद डॉ. वर्मा ने उसका समाधान भी ढूँढ लिया है। समान परिस्थिति में पडे हुए मुरारी और विश्वमोहिनी को वे एक कर देते हैं। लेकिन फिर भी वह उन्हें समाजद्रोही नहीं बनाते। स्पष्ट है, मुरारी अपने पिता से द्रोह करके विश्वमोहिनी से विवाह करना नहीं चाहता बल्कि उसके आशीर्वाद के साथ ही वह उसके साथ जीवन में प्रविष्ट होना चाहता है। आज ऐसी अनेक समस्याएँ नए-नए रुपो में हमारे समक्ष आ रही हैं उन नई समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में हमें इसी प्रकार नए समाधानों को नए ढंग से, इसी समाज के संदर्भ में खोजना होगा। अतः 'एक तोले अफीम की कीमत' एक यथार्थवादी रचना है जिसमें सामाजिक व्यवस्था और उसमें परिव्याप्त कलुषित भौतिकवादी जीवन-दृष्टि पर लेखक ने प्रहार किया है। इसमे मुरारी और विश्वमोहिनी के चरित्र के माध्यम से वर्माजी ने समन्वयवादी आकांक्षा का प्रतिपादन किया है। एक ओर मुरारी जो स्नातक है, उसके पिता एक अनपढ लडकी से शादी दहेज के लोभ में तय कर देते हैं, तो दूसरी ओर विश्वमोहिनी, जो स्नातक (द्वितीय वर्ष) की छात्रा है, उसके पिता अपनी गरीबी एवं निर्धनता के कारण उसकी शादी करने में असमर्थ है। दोनों ही अपने वर्तमान अस्तित्व से निराश होकर सन्त्रास, दुःख

और मृत्यु-भय से पीड़ित हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दोनों मृत्यु का चयन करते हैं। लेकिन लेखक ने उनके अस्तित्व के रक्षार्थ अफीम चौकीदार को दिलवा देता है। दोनों ही पात्र अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट होकर पलायनवादी हो जाते हैं और आत्महत्या को श्रेयस्कर समझ अफीम की दुकान की ओर आकर्षित होते हैं।

इस सामाजिक समस्या पर आधारित एकांकी में दो समानान्तर स्थितियों का बडा सजीव प्रयोग किया है। लेखक ने पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित वातावरण प्रस्तुत करके आधुनिक समस्या का भारतीयकरण कर दिया है। इसमें मुरारी और विश्वमोहिनी के माध्यम से पारस्परिक विवाह-पद्धति का विरोध कर वह समाज को प्रगतिशील विचारों की महत्ता समझाकर यह प्रदर्शित करते हैं कि आज समाज में बौद्धिक प्रयोग की अति आवश्यकता है क्योंकि पहले तो दोनों धैर्य छोड़कर आत्महत्या करने पर उतारु हो जाते हैं। लेकिन फिर संयम से प्रणयपाश मे बँध जाते हैं।

'रेत की दीवार' श्री राजेन्द्रकुमार शर्मा द्वारा रचित एकांकी इसी कुप्रथा को लेकर रचित है। इस दहेज प्रथा को लेखक ने 'रेत की दीवार' बताया है। आज के युवक-युवतियाँ यदि चाहें तो यह दहेज-प्रथा जो हमारे सम्मुख दानवाकार धारण किये खड़ी है, 'रेत की दीवार' की भाँति ढहाकर गिरा सकते हैं। हास्यपूर्ण कथोपकथनों और नाटकीय स्थितियों के मध्य लेखक ने अपने मन्तव्य को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत एकांकी में अशोक नवीन विचारों का युवक है। 'अलबेला' उपनाम से वह कविता करता है। विवाह को अपनी उन्नति के मार्ग में बाधक समझता है। परन्तु अशोक को पिता के कहने पर लडकी देखने जाना पडता है। रेखा के पिता रामनाथ और गुलाबराय बातचीत करते हुए बाहर चले जाते हैं। रेखा भी विवाह नहीं करना चाहती है। वह विवाह को स्त्री-स्वतंत्रता में बाधक समझती है। अशोक और रेखा दोनों योजना बनाते हैं कि यदि दोनों के पिता दहेज की बात लेकर झगड पड़ें तो दोनों ही इस विवाह की मुसीबत से छुटकारा पा सकते हैं। इसी योजना के अनुसार रेखा अपने पिता रामनाथ से कहती है कि ये लोग दहेज में 25,000 माँग रहे हैं। उसके पिता यह सुनते ही क्रोध में उबल पडते हैं और विवाह करने से इंकार कर देते हैं। अशोक और उसके पिता वापस चले जाते हैं। परन्तु जब रेखा को ज्ञात होता है कि अशोक ही 'अलबेला' नामक कवि है, जिसके वह गीत गाती और प्रतियोगितमा में पुरस्कार प्राप्त करती है और जिसकी कल्पनाओं में वह खोई रहती है तो वह उससे प्रेम करने लगती है। दोनों ही दहेज की दीवार को रेत की दीवार के समान तोड़कर विवाह-सूत्र में बँध जाते हैं। दोनों के माता-पिता संतान प्रेम के कारण इस विवाह को सहर्ष स्वीकार कर लेदे है। अन्त में, रेखा के पिता रामनाथ कहते है - "जी हाँ! जी हॉ, वह रेत की दीवार ढह गई। लेखक ने यहॉ

समस्या का समाधान भी प्रस्तुत कर दिया है। अतः यदि प्रत्येक युवा-वर्ग ये ठान ले कि इस कुप्रथा का बहिष्कार करना है तो इसका अंत निश्चित रुप से हो पाएगा।

इसी प्रकार डॉ. सत्येन्द्र ने 'बलिदान' एकांकी में दहेज की हत्यारी कुप्रथा का भंडाफोड किया है। स्वदेश कुमार द्वारा रचित एकांकी 'सौदा' और 'नारी का मूल्य' में इस समस्या को चित्रित किया गया है। 'नारी का मूल्य' एकांकी में दहेज और पत्नी में से किसका मूल्य अधिक है, इसका विवेचन करते हुए समाज के गिरते मानदण्डों पर कटाक्ष किया गया है। विनोद रस्तोगी द्वारा रचित 'दायरा', 'स्वर्ग के खण्डहर' इसी विषय को लेकर रचित हैं। 'स्वर्ग के खण्डहर' विघटित परिवार की झॉकी है। अपनी पागल बहन की गुलाबी साडी पहनने की इच्छा को पूर्ण करने के लिए तथा शराबी पिता की रक्षा के लिए अपने तन का मोल लगा देने वाली 'कान्ता' के जीवन की यह करुण कहानी है। अन्त करुण है क्योंकि अन्त में कान्ता आत्महत्या कर लेती है। एकांकी में शान्ता के पागलपन का रहस्य स्पष्ट किया गया है कि दहेज प्रथा के कारण उसकी बारात दरवाजे से लौट गई थी। श्री देवराज दिनेश द्वारा रचित एकांकी 'किस्मत का खेल' में इस प्रथा पर तीखा व्यंग्य है। पुत्री के दहेज नहीं देने के पक्षकर्ता पिता पुत्र के लिए जब दहेज माँगता है तब उसका ढोंगी समाज-सुधारक रुप सामने आ जाता है।

'लक्ष्मी का स्वागत' एकांकी में 'अश्क' जी का लक्ष्य व्यक्ति और समाज है। व्यक्ति के रुप में रोशन है और समाज के रुप में रोशन की मॉ और बाप तथा वे सूचनाएँ हैं जो उसके विवाह सम्बन्ध की बात कहती हैं। संवेदना का एकत्रीकरण बच्चे की मौत द्वारा करके एक गहन प्रभाव छोडने की कुशल और सफल संयोजना से यह एकांकी युक्त है। एकांकी में 'अश्क'जी ने बडे ही प्रभावशाली ढंग से उस प्रथा पर तीव्र प्रहार किया है जो मानव की सूक्ष्मतम भावनाओं को अपनी मशीन में एकदम भावनारहित होकर पीसे जाती है। नारी को पुण्य वस्तु समझ उसके प्रति युग-युग से किया जाने वाला अत्याचार के एक पहलू को अपने उक्त एकांकी में प्रस्तुत किया है। 'लक्ष्मी का स्वागत' एकांकी में सामाजिक समस्या परिवार की चहारदीवारी में आ जाती है। यहॉ इसका स्वरुप विभिन्न मानसिक स्तरों को खोलता हुआ, सूक्ष्म भावनाओं को उभारता हुआ उस अवस्था का चित्र प्रस्तुत करता है जहॉ नायक की माँ शुष्क भावनाहीन नारी बनकर बच्चे की मौत की छाया में, नायक के विवाह सम्बंध द्वारा लक्ष्मी प्राप्त करेन की पशुता में संलग्न है। रोशन के मातृविहीन पुत्र के दुःखद अंत में नाटकीय परिस्थिति द्वारा जिस घनीभूत प्रभाव को व्यथा की भावना से प्रेरित किया गया है, वह अपूर्व है, स्वाभाविक और करुण है। कथावस्तु का चुनाव प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन से किया है।

अनमेल विवाह की समस्या :

दहेज प्रथा का दुष्परिणाम अनमेल विवाह भी है। दहेज देने में असमर्थ व्यक्तियो को अपनी पुत्रियो का विवाह वृद्ध पुरुषों अथवा विकलांगों के साथ करना पडता है। अनमेल-विवाह कई बार सामाजिक-आर्थिक आदि बाह्य परिस्थितियो से निर्मित होते है। तो कई बार उसके मनोवैज्ञानिक कारण भी जिम्मेदार होते हैं। आज इतनी वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद अनेकों ऐसी समस्याएँ उद्‌भुत हो गई हैं जो निरन्तर मानव जीवन को त्रस्त कर रही हैं। अनमेल विवाह की समस्या कई कारणों से आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। एकांकीकारों ने अपनी एकांकियों में इसे गंभीरतापूर्वक उठाया है। बे-मेल विवाह के पीछे अनेक कारण हैं। इसके लिए कहीं शैक्षणिक कारण उत्तरदायी है तो कहीं आर्थिक या कहीं-कहीं विचार वैषम्य तथा अन्य कई कारण हैं जो इस समस्या के लिए उत्तरदायी माने जा सकते हैं। स्त्री-पुरुष के आपसी सम्बन्ध सहयोग एवं साहचर्य पर निर्भर है तथा परिवार के सुख और शांति के मूलाधार हैं किन्तु यही संबंध बे-मेल विवाह से विषादपूर्ण बन जाता है। दाम्पत्य जीवन एक ऐसा जीवन है, जिसमे कई आधार सफलता और असफलता के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। बेमेल या अनमेल विवाह कभी भी सार्थक सिद्ध नहीं होते। उनमें जीवन की टूटन और घुटन ही अधिक होती है। अपनी मर्यादाओं में रहते हुए कई स्त्रियों को न चाहते हुए भी ऐसा वैवाहिक सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है, जिसे वह नहीं चाहती है, और पूरा जीवन उसे इसी प्रकार के तनाव और घुटनभरे माहौल मे व्यतीत करना पडता है।

'कलयुगी विवाह' में देवकीनन्दन त्रिपाठी जी ने वर्तमानकाल के अशुद्ध रीति से प्रचलित अनमेल विवाहों की दुर्दशा तथा उससे जो बड़ी भयानक दुर्घटनाएँ घटा करती हैं, वे चित्रित की गई हैं। अन्त में निम्न कवित्त में संपूर्ण मर्म को चित्रित किया गया है-

"गर्ग औ गौतम शान्डिल नाम ले बेचहु पूत कुलीन कहाओ।
वेद औ शक्ति पुरानहु को तुम, भूरि प्रपंच से धुरि मिलाओ॥
तीन औ चारहु पाँच बरिस्स के बालक ब्याहि कुरीति बढाओ।
नारी बडी बर छोटहु ता पर भारत के मुख खाक लगाओ॥

इससे हे सज्जनों इस कुरीति को अब भी इस कलयुगी विवाह का खेल देख के छोडो तो तुम्हारा कल्याण हो।"[34]

डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा रचित एकांकी 'परीक्षा' में लेखक की समन्वयवादी आकांक्षा परिलक्षित होती है, क्योकि बीस वर्षीय युवती रत्ना एक पचास वर्षीय प्रोफेसर केदारनाथ से विवाह करके यह सिद्ध कर

देती है कि नारी जब स्वेच्छा से किसी का वरण करती है तो वह अवस्था नहीं देखती, अपितु हृदय देखती है और ऐसे पति पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए सदैव तत्पर रहती है।'[35] प्रश्न है, युवती ग्रैजुएट रत्ना ने पचास वर्ष की इस पक्की उम्र वाले प्रोफेसर की पत्नी क्यों बनना चाहा। आखिर लड़की के भी अपने सुहाने सपने होते हैं। वह भी चाहती है कि उसका पति सुंदर हो, युवा हो। इस एकांकी के डॉ. रुद्र ने कहा ही है- लड़की सफेद बालों के बजाय काले बाल ही पसंद करती है।'[36] पचास वर्ष के इस विगत यौवन केदार की पत्नी होकर रत्ना खुश कहाँ है ? केदार की ही गवाही है कि प्रोफेसर उदयनारायण के यहाँ जन्मोत्सव से लौटने के बाद कुछ दिनों तक बराबर रत्ना कहती रही कि उसे कुछ अच्छा नही लगता।"[37] स्पष्ट है कि उसका मातृत्व तडप रहा है और केदार के पास उसकी इस अतृप्ति को दूर करने की शक्ति-सक्षमता नहीं है तो फिर रत्ना ने अपना यह सर्वनाश क्यों कराया?

अतः इसके उत्तर में वर्माजी ने एकांकी के माध्यम से यह बताया है कि- रत्ना ग्रैजुएट आधुनिका है, जिसकी सबसे बडी माँग है- स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता। ऐसी नारी के आगे पति की कल्पना एक ऐसे साथी की है, जो 'काम्पिटीशन' में बैठे, आई.सी.एस. में आये। यह सब इस लिए कि उसके घर चार नौकर हों और चढने के लिए मोटर हो।"[38] ऐश्वर्य की आकांक्षा आधुनिका नारी को रत्ना की स्थिति में ला देती है। डॉ. वर्मा यहाँ दो प्रश्न खडे करते हैं। एक तो यह कि क्या पक्की उम्र के केदार जैसे व्यक्ति को रत्ना जैसी युवती से विवाह करना चाहिए और दूसरा यह कि आधुनिका को क्या नौकर-चाकर, बँगले-मोटर की भौतिकता के लोभ में अपने जीवन को उसी तरह बरबाद कर लेना चाहिए, जिस तरह रत्ना ने किया? प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से डॉ. वर्मा ने आधुनिकाओं की ऐश्वर्य भोग की लालसा को चित्रित किया है। वह विवाह ऐसे पुरुष के साथ करना चाहती हैं जो जीवन भर उनके नाजनखरे उठाने में सक्षम हो। वह चाहती हैं कि उनका पति श्री संपन्न हो। इसके लिए सब कुछ नजर-अंदाज कर देती हैं यहाँ तक की उन्हें उम्र का फासला भी नहीं दिखता है। अपने ऐसे मनपसंद पति को पाकर वे कुछ समय तो खुश हो जाती है, किन्तु जीवन के मध्य में आकर उन्हें एक तिक्कता सी महसूस होती है। मन में पश्चाताप के भाव भी अनायास ही उदित हो जाते हैं।

वर्मा जी ने प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से आज की आधुनिक शिक्षित नारियों की मनोदशा को व्यक्त किया है। आज फैशनपरस्त युवतियाँ आर्थिक स्वतंत्रता चाहती हैं। इसलिए वे ऐसा वर चाहती हैं जो श्री संपन्न हो और उनकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हों। अतः एकांकी के माध्यम से आपका यह सु-संदेश है कि वैवाहिक संबंध अच्छी प्रकार सोच समझकर जोड़ने चाहिए चुँकि भौतिक सुख तो क्षणिक होते हैं और ऐसे सुख के लिए सम्पूर्ण जीवन दाव पर लगा देना कोई बुद्धिमानी नही है।

जी.पी. श्रीवास्तव के 'मार मार कर हकीम' नामक एकांकी में भी तत्कालीन समाज के प्रचलित अनमेल विवाह का विरोध किया गया है। उस युग की परिस्थितियो को देखते हुए जी.पी श्रीवास्तव का यह प्रयास सराहनीय है। आपने मौलियर द्वारा रचित अति विख्यात प्रहसन ले 'मेडेसिन मल्ग्रे लुई' के आधार पर सन् 1917 में इसकी रचना की थी। टर्रेखॉ नामक लकडहारे को मार मार कर हकीम बनाया जाता है इसी आधार पर प्रहसन का शीर्षक 'मार मार कर हकीम' रखा गया है। अस्सी वर्षीय खूसटबेग, लालचबख्श की युवती कन्या शबनम से विवाह का इच्छुक है। शबनम इस विवाह के विरोध में मौन धारण कर लेती है। किसी रोग के कारण उसके गूंगे हो जाने का भ्रम किया जाता है। लालचबख्श उसके उपचार के लिए दो नौकरों 'चरकट' और 'बौडम' को हकीम ढूंढने भेज देता है। जिनकी मुठभेड़ राह में 'जंजाल' नामक एक स्त्री से होती है। उसका पति टर्रेखाँ लकडहारा है। ये अपने पति से उसकी झगडालू प्रवृत्ति के कारण अत्यंत दुःखी रहती है। टर्रेखॉ को वह हकीम बता देती है उसके लाख मना करने पर भी दोनों नौकर उसे मार मारकर हकीम बनाकर अपने मालिक के पास ले जाते हैं। वह भी अपने आपको अंत में हकीम मान लेता है। उसकी भेंट 'दिलदार' नामक एक युवक से होती है जो शबनम का प्रेमी है। वह शबनम से भेंट करा देने का उसे वचन देता है। लालचबख्श से शबनम के उपचार के लिए 'उस्तकद्दूस' नामक औषधि मंगवाने को कहता है। नौकर 'बौडम' औषधि लेने जाता है और एक बोरे में खुसटबेग 'उस्तकद्दूस' बनकर पहुँचता है और सब भेद बता देता है। इसी समय दिलदार, शबनम के पिता को बताता है कि उसे अभी सुचना मिली है कि चाचा की वसीयत के अनुसार उसकी सम्पत्ति का मालिक अब वही है। अतः शबनम का विवाह अब उससे ही होना चाहिए। प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से अनमेल विवाह की समस्या का विरोध प्रदर्शित किया गया है। 'खानम' का कथन इसकी पुष्टि करता है- "ऐसे माँ-बाप की अकल पर पत्थर पडे जो रुपये के लालच में अपने लडके-लड़कियों के गले पर अपने ही हाथ से छुरी चलाते हैं।"

'प्रतिभा का विवाह' भुवनेश्वर प्रसाद द्वारा रचित एकांकी मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि पर आधारित है। जिसमें लेखक ने काम-भावना और विवाह की समस्या का यथातथ्य विश्लेषण किया है। वैयक्ति-प्रेम को प्रतिष्ठित करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जिससे प्रेम किया जाता है, उससे विवाह करना ठीक नहीं।"[39] प्रतिभा, महेन्द्र और मि. वर्मा आदि इस एकांकी के पात्र हैं। दोनों प्रतिभा को प्रेम करते हैं। प्रतिभा विवाह के सम्बन्ध में स्वतन्त्र्य विचार रखती है लेकिन पिता की इच्छा के विपरीत प्रतिभा मि. वर्मा से विवाह करती है। इस एकांकी मे विवाह और प्रेम का वैषम्य प्रदर्शित किया गया है। मि वर्मा धनी एवं अधेड पुरुष होकर प्रतिभा नामक युवती से विवाह के इच्छुक हैं। प्रतिभा महेन्द्र नामक युवक को प्रेम तो करती है,

पर आर्थिक स्थिति को संभालने के लिए धनी मि. वर्मा से विवाह करने को तैयार है। क्योंकि उसे उसका अर्थलाभ और आजादी प्राप्त हो जाएगी। प्रतिभा पश्चिमी स्त्रियों की तरह फॉरवर्ड बन जाती है। उसका चित्रण उन सुशिक्षित स्त्रियों जैसा है - जो सामाजिक प्रतिष्ठा को नैतिकता या प्रेम से अधिक महत्व प्रदान करती हैं। प्रेम को तो वे स्वच्छन्द रुप में अन्यत्र भी प्राप्त कर सकती हैं।"[40] वह महेन्द्र से विवाह नहीं करती है। उसके पिता चाहते हैं कि प्रतिभा की शादी महेन्द्र से हो जाय क्योंकि दोनों एक-दूसरे से प्यार करते हैं तथा उम्र में भी समान हैं। मि. वर्मा जो उम्र में प्रतिभा के पिता तुल्य हैं, मोहन के साथी हैं। इन दोनों की मित्रता काफी दिनों से निरन्तर चली आ रही है। मि. वर्मा एक धनवान व्यक्ति है इसी कारण प्रतिभा का आकर्षण भी मि. वर्मा की ओर हो जाता है और वह उसमें पिता का स्थानांतरण कर बैठती है। मि. वर्मा उसे अपनी भावी पत्नी के रुप में देखने लगता है। पिता द्वारा प्रतिभा का विवाह महेन्द्र के साथ निश्चित बतलाने पर, वह महेन्द्र के प्यार को अपने भाई जैसा सिद्ध करके अधेड मि. वर्मा की ओर इसलिये झुक जाती है कि वह धनवान है। प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से भुवनेश्वर जी ने गंभीर समस्या की ओर संकेत करते हुए यह बताना चाहते है कि आधुनिक स्त्रियाँ ऐसे कदम तो उठा लेती है किन्तु जब उन्हें इसका मूल्य चुकाना पडता है तो उनके समक्ष पश्चाताप के सिवाय कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। क्योंकि वे अपना जीवन स्वयं अपने ही हाथों वे बर्बाद कर चुकी हैं।

द्विवेदीजी ने दाम्पत्य जीवन के असंतुलन को चित्रित करते हुए इसका मूल कारण अनमेल विवाह की समस्या को ठहराया है। अनमेल विवाह से सम्पूर्ण जीवन दुरुह हो जाता है। गणेश प्रसाद द्विवेदीजी की 'शर्माजी' एकांकी में नायक शर्माजी, उनकी सहधर्मिणी उमा तथा आधुनिक शिक्षिका नारी, प्रेमिका तारा का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है। शर्माजी विदेश से पढ़कर वापस आए हैं और सहृदय कवि हैं , परन्तु विडम्बना यह है कि उसका विवाह हुआ है अनपढ गँवार उमा से। दूसरी तरफ उनकी प्रेमिका तारा का विवाह उसके सहपाठी डाक्टर आस्थाना के साथ होता है। लेखक ने शर्माजी के अपने वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट और तारा की विस्मृत प्रेम को प्रभावशाली रुप में अभिव्यक्त किया है।

द्विवेदीजीने 'वह फिर आयी थी' तथा 'परदे का अपर पार्श्व' एकांकी में भी इसी समस्या को उठाया है। 'वह फिर आयी थी' में मानवीय पृष्ठभूमि में विफल प्रेम की कथा की मार्मिक अभिव्यंजना की गई है और बताया गया है कि अनमेल विवाह जान का गाहक बन सकता है। प्रस्तुत एकांकी में आधुनिक ख्याति प्राप्त कविरत्न सिद्धनाथ ने कभी मनोरमा से प्रेम किया था, परन्तु मनोरमा का विवाह अन्यत्र हो जाता है, तदोपरान्त देहावसान भी, किन्तु यह कहानी सिद्धनाथ को मालूम नही रहती। वह दिन देखता है कि मनोरमा उसके यहाँ

आयी है। वह उससे बातें करता है, उसे वापस जाने से रोकना चाहता है कि मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। यह मनोरमा नही, मनोरमा की मृतात्मा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कवि रत्न की दमित प्रेमाकांक्षा ही मनोरमा के रुप में साकार हो उठी है। 'परदे का अपर पार्श्व' एकांकी में रमेशचन्द्र और उर्मिला परस्पर प्रेम करते हैं किन्तु उसका विवाह भगवानदास से हो जाता है, किन्तु उर्मिला के लिए यह विवाह दण्ड स्वरुप प्रतीत होता है। वह रमेश को भूल नहीं पाती है। इसके परिणामस्वरुप वह बीमार रहने लगती है। वह अपने जीवन के अंतिम क्षणों में एक बार अपने प्रेमी नरेश से मिलना चाहती है और अपने पति द्वारा उसे बुलावा भेजती है। किन्तु रमेश उससे मिलने नहीं आता है। उसने निश्चय किया है कि उसके मरने के बाद ही उससे मिलने जाएगा क्योंकि वह उर्मिला को यह अहसास कराना चाहता है कि एक पुरुष के सच्चे प्रेम के निरादर की प्रतिक्रिया कितनी भयंकर हो सकती है। प्रेमी से एकबार मिलने की आश लिए उर्मिला की मृत्यु हो जाती है । यह खबर सुनकर रमेश स्तब्ध रह जाता है। इसे सह नही पाता है क्योंकि वह भी अब तक उसे भूल नहीं पाया था। उसी से प्रेम करता था। भगवानदास उर्मिला के पति भी यद्यपि उर्मिला से प्रेम करते थे इसीलिए वे उर्मिला की अंतिम इच्छा को अस्वीकार नहीं पाए और रमेश को बुलाने के लिए तैयार हो गए। यह एक पुरुष के आत्मसम्मान के विरुद्ध बात थी कि उसकी अपनी पत्नी उससे प्रेम न करके किसी अन्य पुरुष के प्रति मन से समर्पित है। अतः यहाँ एक साथ तीन जिन्दगी बर्बाद हो चुकी है। ऐसे जीवन में किसी को भी सुख नहीं मिलता है। द्विवेदी जी ने यहाँ इस समस्या की भीषणता को चित्रित किया है।

इसी प्रकार श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के 'परिमाण' एकांकी तथा भृगतुपकरी की 'काँच का टुकड़ा' एकांकी इसी समस्या को लेकर चित्रित की गई हैं। अतः अपनी एकांकियों के माध्यम से एकांकीकारों ने हमें इस समस्याके समाधान हेतु अपने हिन्दू-समाज की प्रमुख विवाह-संस्था में अपेक्षाकृत वांछित सुधार करने हेतु प्रेरित किया है। समाज में अपेक्षाकृत इस तरह के सुधारों की अत्यंत आवश्यकता है। अनमेल-विवाह की समस्या को युवा मानसिकता से भी सुधारा जा सकता है। युवा-पीढी में आपसी समझौता अत्यंत आवश्यक है। विवाह के पश्चात् पति और पत्नी के बीच विचारों का तालमेल जरुरी है। दाम्पत्य जीवन की नींव ही इस पर आधारित है। आधुनिकाओं को भी यह समझना चाहिए कि पति-पति है उनका सेवक नहीं है। वे अपनी दृष्टि को बदलें अन्यथा दाम्पत्य जीवन दुरुह हो जाएगा। और इस दुर्बह बोझ को ढोने के लिए दम्पत्तियों को विवश होना पडेगा। चुँकि आज यह एक बडी समस्या बनती जा रही है। अतः एकांकीकारों ने अपनी एकांकियों के द्वारा इन भीषण प्रश्नों को रखकर हमें सोचने के लिए विवश कर दिया है।

बाल-विवाह की समस्या :

प्राचीनकाल से ही बाल-विवाह की समस्या एक गंभीर समस्या बनकर हमारे जीवन को त्रस्त कर रही है। दूधमूँही बच्चियों का विवाह कर दिया जाता है तथा उनके विधवा हो जाने पर उन्हें जीवन के सभी सुखों से वंचित रखा जाता है- यह उन नादान बालिकाओं के लिए घोर-अत्याचार है। इस सामाजिक विधान को स्वीकार कर मानसिक रुप से भी वे विधवा हो जाती हैं। लेकिन वैधव्य किसे कहते हैं? उसे जानने का अवसर भी उन्हें नहीं मिल पाता है। वैधव्य का अर्थ वह उतना ही जानती हैं जितना सामाजिक रुढियों से वे जान सकती थी। कई बार बालपन में ही विवाह होने पर युवावस्था में विचार-वैषम्य के कारण, बाह्य रुप-रंग की विचित्रता के कारण अथवा शिक्षा-अशिक्षा के कारण लड़के-लडकी का सम्पूर्ण जीवन ही कलहपूर्ण बन जाता है। ऐसे समय में विवाह उनके लिए अभिशाप बन जाता है जिसे उन्हें जीवन-भर ढोना पडता है। आर्य-समाज ने इस रुढि का खुलकर विरोध किया। समाज सुधारको ने इस अनिष्ट को निर्मूल करने का प्रयत्न किया है। भारतेन्दु जी के प्रहसनों में इस जागृति के लक्षण उपलब्ध हैं। 'भारत दुर्दशा' भारतेन्दुजी द्वारा रचित, 'बाल-विवाह' श्री शरण तत्सम्बंधी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश कृत 'विनाशलीला' में बाल-विवाह के कारण सर्जित विनाशकता का चित्र है। श्री भगवत शरण उपाध्याय 'नारी' तथा श्री कृष्ण-किशोर 'कच्चे धागे' में भी इस समस्या को लेकर रचित हैं।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा रचित एकांकी 'सेवामंदिर' राधा नाम की सुन्दर स्त्री को लेकर चलती है। राधा माधव से प्रेम करती है, पर समाज का कठिन शासन राधा को एक तपेदिक के रोगी कुलीन ब्राह्मण से विवाह के बंधन में बाँध देता है। पति के देहांत के पश्चात् राधा का वैधव्य दुःख में भी फूलता-फलता, अछूता यौवन, अतृप्त आशाएँ और उमड़ते उद्गार, समाज से विद्रोह करने को व्यग्र हो जाते हैं।

विधवा-विवाह की समस्या :

विधवा समस्या भी इसी से जुड़ी हुई समस्या है। दुर्भाग्यवश यदि नारी विधवा हो जाती है तो उसे जीवन के सभी सुखों से वंचित कर दिया जाता है जिसे वह हृदय से स्वीकार नहीं कर पाती है। यद्यपि उसका अन्तर्मन इसे स्वीकार नहीं करता है तथापि उसे वैधव्य का बोज ढोना पड़ता है. उन्हें श्रृंगार करने पर भी पाबन्दी है क्योंकि समाज इसे बुरी दृष्टि से देखता है। उन्हें अपशकुन मानकर शुभ-अवसरो पर उनका बहिष्कार किया जाता है। सामाजिक क्षेत्र में न्याय नहीं रह गया है। एक ओर वृद्ध है जिन्हें विवाह करने की खुली छुट है, दूसरी ओर जवान स्त्रियों को भी इसकी आज्ञा नहीं दी जाती है। आज के युग में भी ऐसी ही असमानता सर्वत्र देखी जा सकती है। यूँ तो स्त्री-पुरुष की समानता की दलीलें दी जाती हैं लेकिन हकीकत कुछ अलग ही है। एकांकीकारों ने हमें उन समस्याओं की गभीरता का दिग्दर्शन अपनी एकाकियों में कराया

है। बाल विवाह की कुरुढि के कारण ही नारी के माथे पर असमय मे वैधव्य आ पडता था। बाल-विधवा युवा होने पर स्वाभाविक रुप से युवा पुरुष की ओर आकर्षित होती है। समाज उसे बंधन में बाँधता है और यह बंधन अनेक विकृतियों को जन्म देता है। बाल-विधवा के साथ-साथ युवा विधवा की समस्या भी जटिल रही है।

श्री कृष्णकिशोर श्रीवास्तवजी का 'कच्चे धागे' बाल-विधवाओं की व्यथाओं से संबंधित कॉलेज जीवन का एकांकी है। शरीर से सुन्दर किन्तु रुप से विधवा रेखा अनेक मनचले कालेज युवकों के आकर्षण का केन्द्र बनती है, सताई जाती है। अन्ततः एक कुरुप पर स्थायी गुणों को प्रेम करनेवाले वकील से विवाह कर लेती है। वह एक बार दिखावटी प्रेम के धोखे में पड चुकी है, पुनः कच्चे धागों में झूलना नहीं चाहती। दूसरी बार वह स्थायी प्रेम वाले कुरुप युवक को चुनती है। एकांकी में आदर्श और यथार्थ द्वन्द्व है। श्री राधाकृष्ण दास द्वारा रचित 'दुःखिनीबाला' (1880) करुणात्मिक है। बाल-विवाह, जन्म-पत्र विवाह और विधवा के अशुभ परिणाम की इसमें चर्चा है। सरला का प्रथम विवाह पुरुष की जन्मकुण्डली से न मिलने के कारण सम्पन्न नहीं हो पाता है। अंत में अशिक्षित व्यक्ति से उसका विवाह कर दिया जाता है। विवाह के पश्चात् उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। सरला को वैधव्य का बोझ उठाना पडता है। कामावेग को बर्दाश्त नही कर पाने के फलस्वरुप सरला विषपान कर लेती है। एकांकी में विधवा-विवाह के पक्ष में मत प्रकट किया गया है। 'विधवा-विवाह' में इन लोगों ने न मालूम क्या दोष निकाला है, यह तो वेद-पुराण सब में लिखा है कि विधवा-विवाह करना चाहिए।"[41]

'भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दुजी ने भारत की तत्कालीन यथार्थ दशा का चित्रण प्रस्तुत करते हुए विधवा-विवाह आदि समस्या की ओर संकेत किया है। इस कल्पना प्रसूत कथा को प्रतीकात्मक रुप प्रदान किया गया है। तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दुर्दशा ही समग्र रुप से इसकी कथावस्तु है। भारत-दुर्दशा की यथार्थ तस्वीर अपनी सम्पूर्ण मर्मस्पर्शिता के साथ सजीव हो उठती है और साथ ही भारत-दुर्दशा के कारण और उनके द्वारा कैसे भारत-दुर्दशा को प्राप्त हुआ, यह भी स्पष्ट हो जाता है। इसके माध्यम से भारतेन्दुजी ने समाज-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था, सरकारी व्यवस्था, देशवासियों तथा समाज सुधारकों सभी पर तीखे व्यंग्य किए हैं। सत्या. फौ - "महाराज, फिर संतोष ने बडा काम किया। सबको अपना चेला बना लिया। अब हिन्दुओं को खाने मात्र से काम देश से कुछ काम नही। राज न रहा पैंशन ही सही। वह भी न रहा, तो घर ही का सही। संतोषं परंम् सुखम्।' अन्त में - देशवासियों की ऐसी ही दशा के कारण भारत भाग्य को आत्महत्या करनी पडती है। अपव्यय, अदालत, फैशन, सिफारिश, फूट, डाह,

लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, निर्बलता और आलस्य आदि ने अंदर ही अंदर भारत को जर्जरित कर दिया। इसमें देशवासियों, उनकी दुर्दशा के कारणों और अपनी दशा के प्रति उनकी अचेतना तथा इस दुर्दशा के मूल कारण विदेशी सरकार-यवन तथा अँग्रेज पर तीखे व्यंग्य हुए हैं।

भारत भारतवासियों का प्रतीक चरित्र है, जिसमें उनकी तत्कालीन यथार्थ स्थिति का साँगोपॉग चित्रण हुआ है। उसके चित्रण में समस्त भारतीय जनता की तत्कालीन भावधारा को स्पष्ट किया गया है। जनता किस प्रकार अंग्रेजों से अपने सुधार की आशा करती थी किन्तु उधर से भी उसे निराशा ही हाथ लगेगी, यह तथ्य भी भारत और भारत भाग्य के चित्रण से लेखक ने स्पष्ट किया है। भारत दुर्देव आरंभ में यवनों और बाद में अँग्रेजी सरकार का प्रतीक है। उसकी यह दुहरी प्रतीकात्मकता भारतेन्दु ने वेश-भूषा से भी स्पष्ट कर दी है। शेष पात्रों की प्रतीकात्मकता स्पष्ट है। तत्कालीन भारत की दुर्दशा, दुर्दशा के कारणो और दुर्दशा करनेवालों का यथार्थ स्वरुप उपस्थित कर जनता में यह चेतना उत्पन्न करना ही लेखक का मूल अभिष्ट है कि यदि जनता सचेत न हुई तो भारत भाग्य निःसंदेह आत्महत्या कर लेगा। भारत दुर्देव को अँग्रेज सरकार का प्रतीक बनाकर अँग्रेज सरकार के प्रति देशवासियों की आशा का वर्णन करके भारतेन्दुजी ने जनता की अँग्रेज सरकार के प्रति आशा के थोथेपन को सांकेतिक रुप से स्पष्ट किया है और भारत दुर्दैव को उसका प्रतीक रुप देकर लोगों को सांकेतिक रुप से यह चेतना देने का प्रयास किया है कि अँग्रेज सरकार जो हमारी दुर्दशा का कारण है, उससे सुधार की आशा करना कैसा? अन्त में भारत-भाग्य की आत्महत्या एक सांकेतिक व्यंग्य है कि अगर भारतवासी समय रहते सचेत न हुए तो अपने हाथों से ही वे अपने भाग्य की हत्या करेंगे। इस प्रकार यह अत्यन्त ही सजग उद्देश्य को सामने रखकर लिखा गया है।

'राज्यश्री' एकांकी में वर्माजी ने विधवा-विवाह के आदर्श को स्थापित किया है। आप जीवन को एक यज्ञ मानते हैं। वे मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को पवित्रता के साथ जीवन के कर्तव्य को निभाना चाहिए। ऐसे करने से उन्हें महायज्ञ का पूण्य प्राप्त होगा। वे मानते हैं कि राज्यश्री जैसी विधवाओं को अपने पति के देहावसान के साथ ही सती नहीं होना चाहिए। पति का विरह पति मिलन से ज्यादा शक्तिशाली है। इ स प्रकार यहाँ उन्होंने सती-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह के आदर्श को स्थापित किया है।

पर्दा-प्रथा :

'पर्दाप्रथा' के कारण मध्ययुगीन नारी को बहुत सहना पडा है। आज के युग में इस कुरीति पर भी हिन्दी एकांकीकारों ने प्रहार किये है। राजाराम शास्त्री रचित एकांकी 'सतलडी का हार' तथा उपेन्द्रनाथ

'अश्क' द्वारा रचित एकांकी 'विवाह के दिन' तत्सम्बन्धी उल्लेखनीय रचना है। इसकी कथावस्तु पूर्व अध्याय में निरुपित है।

'अश्क'जी ने प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से पर्दाप्रथा पर व्यंग्य किया है जहॉ विवाह से पहले लडके-लडकी को दिखाया नहीं जाता है। साथ ही रुढिगत परंपराओ की ओर भी संकेत है जहॉ समाज आज भी इतने रुढ़ियों में जकडा है जिससे स्वयं को उबार नहीं पा रहा है। शादी से पहले कम-से-कम जिसकी शादी है उससे राय तो लेनी ही चाहिए क्योंकि यह सवाल उसकी पूरी जिन्दगी के साथ जुडा होता है। यहाँ यदि फर्ज करें कि बहु सुन्दर नहीं होती तो क्या उसकी पूरी जिन्दगी बर्बाद नही हो जाती। ऐसी नौबत ही न आये इसके लिये चाहिये कि जिनकी जिन्दगियॉ इससे जुड़ी हो उन्हें अवश्य अपनी राय व्यक्त करने की खुली छूट होनी चाहिये। लेकिन सवाल यह भी खडा होता है कि यदि केवल बाह्य रुप-सौंदर्य को इसका आधार बनाया जाएगा तो यह चुनाव एकदम विकृत होगा। दाम्पत्य जीवन की सफलता के लिए केवल रुप-सौन्दर्य को आधार नहीं माना जा सकता है। अतः आधुनिक युवकों-युवतियों की अपनी जिंदगी का फैसला करने में गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। केवल काल्पनिक लोक में विचरण नही करना चाहिए। स्वप्नलोक से बाहर निकलकर हकीकत का सामना करना ही बुद्धिमत्ता है। प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से एकांकीकार 'अश्क'जी यह गंभीर प्रश्न उपस्थित करते हैं और समाज को उसके समाधान खोजने पर बाध्य करने का प्रयत्न करते हैं। समाज की वैवाहिक संस्था के प्रति 'अश्क' ने कठोर व्यंग्य किया है, जो व्यक्ति के हास्यास्पद व्यवहारों द्वारा एकांकी में रस भरता हुआ एक तीव्र व्यंग्य की दिशा में गतिमान होता जाता है। और अंत में सामाजिक परिपाटियों की व्यर्थता प्रदर्शित करता हुआ उसके भावी परिणाम का संकेत देकर एकांकी समाप्त हो जाती है। विवाह में लड़की गुडिया की तरह छिपाकर वर की दृष्टि से बचाना और उसके कारण उत्पन्न होनेवाले संदेह का जो रुप परसराम के चरित्र में उभरा है, वह सार्वजनीन है। हिन्दू-विवाह संस्था में बहू को पर्दे में भेजने और तद्जनित परिणामों पर लेखक का व्यंग्य पूरा-पूरा उतरता है।

दाम्पत्य जीवन की विषमता :

भारतीय जीवन में पति-पत्नी का सम्बन्ध गार्हस्थ जीवन की पूर्णता एवम् सफलता का जीवन माना जाता है। यह इतना प्रगाढ और स्थायी होता है कि इसके बुने हुए तंतुओं को उकेरा नहीं जा सकता। इसीलिए हमारे समाज में पाणिग्रहण और सिंदूर-वंदन जैसे संस्कारों की प्रथा है। भारतीय लोक-परिवेश मे यह सिन्दूर-वंदन सन से कराया जाता है। हमारे यहॉ धान के लावे की अर्चना होती है क्योंकि यह सम्बन्ध लाख

दुःखों के बाद भी लावा और धान के छिलके की तरह होता है। वधू के पॉव थाली में डाले जाते हैं ताकि घर के सारे पात्र और भंडार लक्ष्मी के वैभव से पूरित रहें। बदले हुए समाज में यह मानसिकता समाप्त हो गई है। पति और पत्नी ने भारतीयता के इस आदर्श को तिलांजली दे दी है। आज एक ही कमरे में रहकर, एक ही छत के नीचे रहकर, एक ही घर में रहकर पति और पत्नी आपस में अजनबी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। क्योंकि जब मूल्य टूटता है, नैतिकता टूटती है तो उसका स्थान नयी जीवन-पद्धति ले लेती है। आज पत्नी, पति के आदर्शो की अनुगामिनी न बनकर स्वयं को उसकी सहचरी मानने लगी है और पति स्वयं को उसका मालिक समझने लगा है।

पुरुष की प्रवृत्ति प्रारंभ से ही नारी पर हावी होने की रही है और बीसवीं सदी में नारी समानता के कितने भी नगाड़े पीटे जायें, पुरुष आज भी नारी से स्वयं को श्रेष्ठ समझ रहा है। नारी, पुरुष के हाथ का खिलौना रही है, उसकी अंतर कामना है, जिसमें वह जरा भी नहीं हिचकता है। हिन्दी एकांकीकारों ने दांपत्य-जीवन की कटुता के प्रेरक बलों की चर्चा एकांकियों में की है। उसका प्रथम कारण है पति द्वारा पत्नी की उपेक्षा, अपमान और अनादर। शासनाधिकारी होने के कारण पुरुष द्वारा नारी उपेक्षित रही है। इस उपेक्षा ने ही उसके भीतर असंतोष की भावना को जाग्रत किया है। ऐसे उपेक्षित नारी-पात्रों के जीवन की विसंवादिता पर एकांकीकारों ने विचार किया है। दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी के सम्बंधों को टूटने, बिखरने और अर्थहीनता के कारण उत्पन्न कुंठा, तनाव और कलह को सहज ही देखा जा सकता है, जिसके कारण इसमें असंतुलन अधिक है। वैवाहिक जीवन की विवशता, टूटन, घुटन और पीडा को भी एकांकीकारों ने अपनी एकांकियों में दर्शाया है।

डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा रचित एकांकी 'एक्ट्रेस' प्रभातकुमारी किए अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करता है।[42] अपने सामाजिक एकांकियों में वर्माजी ने जो समस्याएँ उठाई हैं उनका विवेचन बडे ही स्वाभाविक एवं यथार्थवादी ढंग में हुआ है। 'एक्ट्रेस' एकांकी हिन्दू विवाहित जीवन का एक सामाजिक अध्ययन है। प्रभातकुमारी का पति उसे नापसन्द कर त्याग देता है। हिन्दू परिवार में त्यागी हुई पत्नियों की जो दुर्दशा होती है, वह सर्वविदित है। उसे एक नाटकीय जीवन यापन करना पडता है। साथ ही सास-ननद इत्यादि के ताने, व्यंग्यादि की बौछार निरंतर उसके ऊपर पड़ती रहती है। यहाँ उपेक्षिता प्रभातकुमारी निराश न होकर सिनेमा-अभिनेत्री बन जाती है, किन्तु उसका हृदय पति परायण रहता है। एकांकी का कथानक यथार्थवादी जीवनदृष्टि पर आधृत है। इसमें पाश्चात्य जीवन से प्रभावित भारतीय युवक अनंगकुमार तथा भारतीय मर्यादा का निर्वाह करने वाली लज्जाशील कुलवधू प्रभातकुमारी जब अपने दुश्चरित्र एवं शराबी पति अनंगकुमार के कहने से

उसके मित्रों के साथ नहीं जाती है तो वह उसे त्याग देता है क्योंकि उसके हृदय में अपनी पत्नी की जो स्थिति है वह मध्ययुगीन है। उसके अनुसार नारी भोग्या के अतिरिक्त और कुछ भी नही है, जो भौतिकवादी जीवन-दृष्टि के प्रभाव का प्रतिफलन है। वह चाहता है कि पत्नी उसके मनोनुकूल आचरण करे तथा वह पति के हाथ की कठपुतली बन कर रहे। अतः वर्माजी ने नारी-प्रतिष्ठा को प्राथमिकता देते हुए पति-पत्नी के पारस्परिक व्यवहार की समस्या को यथार्थ की कसौटी पर कसकर अपनी रचना कौशल प्रस्तुत किया है। 'एक्ट्रेस' एकांकी के माध्यम से प्रभातकुमारी के आंतरिक सौन्दर्य का परिचय मिलता है। आज पश्चिमी चकाचौंध देखकर उसके अच्छे-बुरे परिणामों की परवाह किए बिना ही युवामानस उसकी रोशनी में दिनोंदिन डूबता ही जा रहा है। भारतवासी अपनी सभ्यता-संस्कृति भूलते जा रहे हैं। इसके भयावह परिणाम को स्वीकार करते हुए वर्माजी हमें आगाह करते हैं कि हमें ऐसे निरर्थक और थोथे बनावटी दुनिया से स्वयं को दूर ही रखना चाहिए अन्यथा हमारी सभ्यता और संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी जो एक देश की पहचान होती है। हमारा अपना कुछ भी शेष नहीं रह पाएगा। प्रभातकुमारी अपने बलिदान द्वारा अनंगकुमार जैसे पुरुषों की ऑखे खोलना चाहती है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति हमारी अमूल्य धरोहर है। यह कभी शुभ नहीं होगा कि हमारी गृहदेवियाँ पश्चिमी रंग में रंग जाएँ।

'उत्सर्ग' एकांकी के माध्यम से डॉ. वर्माजी ने कर्तव्य और प्रेम के संघर्ष को दिखाया है। कर्तव्य और प्रेम दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रों में श्रेष्ठ हैं, पुण्य हैं। यहॉ पुण्य का पुण्य से संघर्ष दिखता है। डॉ शेखर ने अपने कर्तव्य के लिए महान् वैज्ञानिक उपलब्धि का भी उत्सर्ग कर दिया। उसने कर्तव्य को प्रेम से अधिक महत्व प्रदान किया है। यहाँ कर्तव्य और प्रेम की समस्या प्रस्तुत है। साथ ही डॉ. वर्मा प्रदर्शित करते हैं कि आज इतनी वैज्ञानिक प्रगति के कारण मनुष्य ने अनेकों उपलबिधयाँ हासिल कर ली है और निरन्तर ही ऐसे प्रयासों में लगा हुआ है। इस दौड-धूप के परिणामस्वरुप व्यक्ति अपनी आत्मिक शांति को खोता जा रहा है। मनुष्य जाति इस कदर व्यस्त हो गया है कि उसे पल भर भी सांस लेने की फुर्सत नहीं रह गई है। छाया के माध्यम से डॉ. वर्मा ने अपने उद्देश्य को सम्प्रेषित किया है कि मृत्यु के रहस्य को कोई नहीं जान सकता। ईश्वर ने मृत्यु को जीवन के बाद इसलिए तो बनाया है कि संसार का जीवन रहे। मनुष्य को अपनी सीमाओ का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए अन्यथा यह स्थिति मनुष्य जाति के लिए कष्टकारक सिद्ध हो सकती है। प्रस्तुत एकांकी के प्रमुख पात्र डॉ. शेखर अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों में तल्लीन रहने के कारण सच्चे नारीत्व का तिरस्कार करते हैं और अपने दोषों को छिपाने के लिए नारी-सेवा का अहं उपस्थित करते हैं। वर्माजी ने प्रतिपादित किया है कि ऐसे व्यक्ति जीवन का उपहास करते हैं और इसीलिए इस उपेक्षा की सजा उनको बडी से बडी देनी होगी। सजा के रुप में जीवन भर के संचित विज्ञान के अनुसंधानों से डॉ शेखर को हाथ धोना

पडता है। इस प्रकार प्रकृति में जीवन की समरसता उपस्थित करने का सफल प्रयास किया गया है।

सेठ गोविन्ददासजी की 'शाप और वर' में सेठजी ने आधुनिक नारी की दो विभिन्न मनःस्थितियों का चित्रण पूर्वाद्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में किया है। पूर्वार्द्ध की स्त्री सूतिका गृह में मरणासन्न अवस्था में शैय्या पर अपने ही मुख से स्वयं के पुरुष की प्रताडना को एक-एक करके प्रस्तुत करती है। उसके स्वयं के साथ हुए किसी भी बुरे व्यवहार को एक पल के लिए भी भूल नही पायी है। स्त्री शिक्षित नारी है। शहर के उन्मुक्त वातावरण में आधुनिक समाज की सारी सुख-सुविधाओं के साथ अपने पित-गृह में बड़े लाड प्यार के साथ पली बढ़ी है। उसका रिश्ता एक करोडपति के घर तय होता है। आने वाली नई खुशियों को देखकर स्त्री दिन-रात सुखद स्वप्नों में विचरण करती रहती है। किन्तु ससुराल में आते ही जैसे उस कुसुमित कृषि पर पाला पड़ गया। ऐसा पतझड़ हुआ कि उसके बाद आने वाले बसन्त के कभी दर्शन ही न हुए। वह अपनी व्यथा ऐसे कहती है मानों एक युग का इतिहास छिपा रखा है, उसके त्रस्त हृदय ने वेदना के जो उतार-चढ़ाव सहन किया है वो एक पुराण बन जाए ऐसा प्रतीत होता है। स्त्री की दुनिया की रचना तभी हो सकती है जब उसे पुरुष का प्रेम प्राप्त हो किन्तु जब उसकी ओर पति ने प्रेम की एक दृष्टि भी नहीं डाली तब उसकी दुनिया ही नहीं बसी। वह केवल काल्पनिक सुख ही भोग पायी। सब कुछ धूमिल हो नष्ट-भ्रष्ट होकर खाक बन गया। उसे केवल उपेक्षा और विराग ही फलस्वरुप मिलता है। वह स्वयं कहती है... उपेक्षा... ऐसी उपेक्षा!.. विराग ... ऐसा विराग!"[43] स्त्री को पति के प्रेम के बिना सारे सुख-सुविधाएँ, धन-ऐश्वर्य तुच्छ प्रतीत होते हैं। साथ ही वह कहती है- "तुम्हारे प्रेम से रहित यह सम्पन्न गृह मुझे श्मशान-सा प्रतीत होने लगा। इसका धन सोने-चाँदी के निर्जीव टुकड़े इसके रत्न और मणियाँ, नंगे पैरों में चूभने वाले पत्थरों के नुकीले खण्ड और सारा वैभव चिता की लपटें।"[44] स्त्री अपने पति से बेहद प्रेम करती है किन्तु पति विलासी वृत्ति का था। अपना जीवन पति से पृथक् उसे निर्जीव प्रतीत होता है। जो स्त्री अपने पति को ही सच्चा जीवन मानती है उसे उससे विलग जीवन को मरणतुल्य ही मानेगी। जिस प्रकार प्राणों के बिना शरीर मुर्दा बन जाता है। स्त्री व्यंग्य स्वरुप पति से कहती है कि - "स्त्री तो अन्य साम्पत्तिक वस्तुओं के समान पुरुष की खरीदी हुई चीज है न?"[45]

स्त्री कठोर सत्य व्यक्त करती है। पुरुष ---- पुरुष चाहे कुछ ही क्यों न करे, पर स्त्री... स्त्री....? समाज में यदि कोई स्त्री कुछ कदम उठाए तो उसे घृणित समझा जाता है। विपरीत इसके पुरुष के लिए कुछ भी बंधन नही। उसे सब माफ है क्योंकि यह पुरुष समाज है। स्त्रियाँ यहाँ सदा से प्रताड़ित रही हैं। संतति न होने पर उसे ही हमेशा दोषी ठहराया जाता है जबकि अधिकांशतः पुरुष भी उसी अनुपात में दोषी पाए गए हैं। उसे सास-ससुर के ताने, गालियाँ, बाँझ, पत्थर, खुडपगी जैसे कठोर शब्दों को सहन करना पडता है। सारे

दोष स्त्रियों के सिर मढ दिए जाते हैं। स्त्री कहती है- "जब यह पुर्जा न चला, मशीन जाम हो गई, तब नए पुर्जे लाने की बात चली। तुम्हारा दूसरा विवाह। ऐसे पतित, ऐसे अधम, ऐसे राक्षस के हाथ में एक और आत्मा, एक और हृदय देकर उसके विनाश का यह विकट आयोजन।"[46] अर्थात् स्त्री को बच्चा पैदा करने की एक मशीन मात्र समझा जाता है। जब ऐसा किसी कारणवश नही कर पाती है तो उसे बेकार समझकर उसके स्थान पर नई मशीन अर्थात् दूसरी स्त्री का बंदोबश्त किया जाता है। आज आधुनिक समाज में भी इतनी शिक्षाओं के बावजूद स्त्रियों की स्थिति में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। आज भी उनका स्थान सदियों पहले वाला ही है। वह स्थिति एक प्रकार से ज्यों की त्यों है। उसी स्त्री को जब गर्भ ठहर गया तब बांझ सुन्दर कोख वाली हो गई, पत्थर कुसुम से भी अधिक कोमल हो गया। खुडपगी के पैर लक्ष्मी के चरण बन गए। किसी भी स्त्री को संतान की कितनी चाह होती है, माँ बनने का कितना चाव होता है किन्तु इसके विपरीत वह कहती है- '..... मुझसे इन सबके उत्तराधिकारी की उत्पत्ति हो यह मेरे आनन्द तथा उत्साह का नहीं बल्कि क्लेश एवं उन्माद का विषय था। मैं सबका नाश चाहती थी, रक्षा नहीं।"

प्रसव के समय डाक्टर के यह कहने पर कि यदि माँ को बचाना है तो बच्चे का सिर तोडा जाएगा, और यदि बच्चे को तो पेट चीरना होगा। किन्तु पेट चीरने से माँ की जान जाएगी। अंत में निर्णय हुआ कि पेट चीरा जाए। अधम, पतितों को बच्चे की इतनी नारकीय चाह थी, सम्पत्ति के उत्तराधिकार की इतनी घृणित लालसा थी। स्त्री पेट चीरवाने से इंकार कर देती है। यह कहकर कि बच्चा सिर तोडकर ही निकाला जाएगा। धोखा देकर बेहाश किया गया। जब होश आया तो मालूम हुआ पेट चीरा गया है। डाक्टर तो पुरुष थे, लेडी डाक्टर भी, स्त्री होने पर भी एक बच्चे के लिए जो न जाने कितने रोज पैदा होते और मरते हैं, ऐसे में एक पढी-लिखी, सभ्य और सुसंस्कृत स्त्री का पेट चीरने के लिए खरीद ली गई। जो खिलवाड एक स्त्री के भावों और शरीर से किया गया वह किसी पुरुष की आत्मा व देह से नही किया जा सकता था। होश आने पर स्त्री को ज्ञात हुआ कि उसने एक लडकी को जन्म दिया है। लडकी क्या हुई मानो भूकम्प आ गया, आग बरस गई, बिजली गिर गई। परन्तु स्त्री की हिफाजत की जाती है क्योकि वह बाँझ नहीं रह गई थी, शायद अगली बार लडका हो जाए। स्त्री का कोई मूल्य नहीं किन्तु यदि वह लडका जनने की मशीन बन जाए तो आदर हो सकता था। हिफाजत होती है केवल इसी आशा में। स्त्री कहती है- "हॉ, इस बची को छोडने का अवश्य दुःख है। तुम सबने मिलकर न जाने कितने पहले मेरे हृदय, मेरी आत्मा का तो खून कर ही दिया था, बच्चे के लालच में आज मेरे पेट को चिरवा मेरे शरीर का भी खून किया है।"[48] जाते-जाते वह भगवान से अनुरोध करती है कि हिन्दू जाति में पैदा न होऊँ, होऊँ ते सम्पन्न घर मे नही, सम्पन्न में तो धनवान कुटुम्ब मे ब्याही न जाऊँ, यह सब भी हो तो पढी-लिखी सुसभ्य और सुसंस्कृत न होकर बच्चे पैदा करने की मशीन भर होऊँ और अगर

पढ़ी-लिखी सुसभ्य और सुसंस्कृत होऊँ तो धार्मिक, सामाजिक, कौटुम्बिक बँधनों को न माननेवाली। साथ ही भगवान से अनुरोध करती है कि मेरी जगह किसी की भीषण आहुति न हो यदि होना हो तो जो आये वह कुसुम या कली न हो, एक सूखी-साखी डाली, ऐसी डाली हो जिसमें विद्या की सुरभि न हो, संस्कार की कोमलता न हो।

अंत में स्त्री अपने पति को श्राप देती है। वह कहती है- '.. तुम्हारा वंश निर्वश हो जाय। कोई जीव इस जड में गडने के लिए उत्पन्न न हो।.... यदि सब कुछ .... सब कुछ होते हुए भी मैं धर्म अनुसार सती... सती रही हूँ, तो .... मेरे... शाप.... शा...प ... से भस्म... म....।" यहाँ 'शाप' शीर्षक के माध्यम से स्त्री की भिन्न मनोदशा का चित्रण सेठजी ने किया है। स्त्री अपने जीवन से प्रताड़ित है और हताश है। नारी की इस नारकीय जीवन का हृदय-स्पर्शी चित्र सेठ जी ने खीचा है। सोचने पर मजबूर किया है कि समाज में आज भी स्त्री की इतनी दयनीय स्थिति बनी हुई है जबकि आज आधुनिक समाज शिक्षित है तथापि स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है।

उत्तरार्द्ध में भिन्न मनः स्थिति का आंकलन और चित्रण सेठजी ने 'वर' नाम से किया है। उत्तरार्द्ध में स्त्री पूर्वार्द्ध के विपरीत अपने प्राणनाथ को बारस वर्षो पूर्व का पूरा युग, वह सारा समय जो उसके पति के शरण में आने के बाद बीता, वह सिनेमा के दृश्यों के समान घूम रहा है। केवल एक समानता है कि दोनों ही सूतिका गृह में स्त्रियाँ मरणासन्न अवस्था में हैं। किन्तु यहाँ स्त्री अपने जीवन से संतुष्ट है। उसका विवाह एक सुन्दर कृषक युवक जो सुशिक्षित भी है उससे सम्पन्न होता है। स्त्री भी अपने पति की दृष्टि में दुनिया की सबसे सुन्दर थी। माँ-बाप द्वारा बडे ही लाड़-दुलार के साथ पली थी उसे कली की भाँति सहेजकर रखा गया था। सुख और दुःख तो चक्र के सदृश घूमते ही रहते हैं, पर दुःख-चक्र में भी प्रेम की धुरी संभाले रहती है। जब सास गई तब उसे जान पड़ा, सारे घर में मानो अंधकार हो गया। जब ससुरजी गए तब भान हुआ सारा संसार अंधकार में ढक गया। फसलें भी बिगड़ीं, कभी-कभी आर्थिक संकट भी आये, पर दोनों फिर भी हर हाल में खुश रहे। स्त्री को अपने पति के प्रेम को पाकर ऐसा लगा जैसे उसका सारा जन्म सफल हो गया। यहाँ भी स्त्री की माता बनने की इच्छा दिनोंदिन अधिकाधिक बढती जाती है। सास-ससुर को भी इसकी इच्छा थी इसके लिए उन्होंने कई मान्यताएँ की। जन्त्र-मंत्र किए लेकिन यहाँ स्त्री को माता बनने और न बन सकने पर कोई ताडना नहीं की गई। स्त्री के साथ स्नेहल व्यवहार किया गया। सास-ससुर की मृत्यु के बाद वह गर्भवती हुई। स्त्री के स्वयं के शब्दों में - "... तुम्हारे अंश को उदर मे बढते हुए जो सुख हुआ, मुझे इसे बढाते हुए भार से जो आनन्द मिला, उसे मैं शब्दों में क्या कहूँ। मादा होने की भावनाओं ने भी मुझे जो माद दिया, मेरे मन में जो उत्साह बढाया, उसका वर्णन भी मैं नहीं कर सकती।"[49] जब उदर में शिशु ने सरकना आरंभ किया तो स्त्री को ऐसा

आभाषित हुआ मानों विश्व की सारी चेतनता उसमें सरक रही है। त्रिलोकी स्वयं जैसे उसके उदर में घूम रहे हैं। प्रसव पीडाओं में भी उसे एक तरफ यदि दर्द की अनुभूति हुई तो दूसरी तरफ हृदय में हर्ष की हिलोरें उठीं। केवल प्रेम पाने पर स्त्री सभी कुछ आसानी से सह लेती है। स्त्रियॉ सहनशीलता की मूर्ति होती हैं। स्त्री के इलाज में उसके पति ने कोई कसर नहीं छोडी किन्तु फिर भी उसे बचाया न जा सका। उसे अपने जाने का तनिक भी दुःख नहीं था केवल छोड़ने का दुःख है। जाते जाते भगवान से प्रार्थना करती है कि जन्म-जन्म ऐसा ही पति मिले और माँ-बाप के समान ही सास-ससुर तथा ऐसा ही खुशहाल घर उसे मिला। अन्त में अपने पति से वर मॉगती है- "वर दो नाथ, घर सूना न रखोगे। अपना जीवन अकेला न चलाओगे। इस शिशु को माता-विहीन न रहने दोगे। ... स्वर्ग से तुम्हारा विवाह देखूँगी। उसे देखकर मुझे और मेरे सास-ससुर को जो सुख होगा उसकी तुम कल्पना नहीं कर सकते। ... तुम अकेले... अकेले रहे तो मुझे स्वर्ग .... में भी तुम्हारी.... चिंता लगी रहेगी ....।"

सेठजी ने दोनों स्त्रियों की मनःस्थितियों को प्रस्तुत करके नारी के ममतामयी और कठोर स्वरुप को प्रस्तुत किया है। जब स्त्री के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है तो वही ममतामयी स्त्री विकराल रुप ले लेती है। तब उसके जिह्वा से केवल श्राप स्फुटित होता है किन्तु जब स्त्री के आसपास का वातावरण स्नेही होगा तो वह अपने ऊपर आए तथा अपने परिवार पर आए सभी विपत्तियों को स्वयं अपने ऊपर ले लेती है। स्त्री के हृदय से यदि कुछ भी स्फुटित होगा चाहे वह शाप हो या वर वह अवश्य फलदायी होगा... फलित होगा। यहाँ सेठजी ने समाज पर व्यंग्य किया है। स्त्री को ऐसी स्थिति में पहुँचाने का श्रेय समाज का उसके प्रति किया गया व्यवहार और उसका स्वयं का पारिवारिक परिवेश उत्तरदायी है। स्त्रियों को मातृत्व से नहीं आंकना चाहिए उनका व्यक्तिगत जीवन भी जुडा है उसे नजरअंदाज करने का परिणाम भयंकर हो सकता है। अतः पारंपरिक मान्यताओं में बदलाव लाने की आवश्यकता है।

'रोमांसःरोमांच' शीर्षक एकांकी में दाम्पत्य जीवन की विफलता और तद्जन्य समस्याओं की प्रस्तुति भुवनेश्वर प्रसादजी ने बडी सफलता के साथ की है। मिसेज सिह का प्यार अमरनाथ नामक एक व्यक्ति से था। किन्तु किसी कारणवश उसका विवाह अमरनाथ से न होकर मि. सिंह से होता है। मिसेज सिंह अपने वैवाहिक जीवन से संतुष्ट नहीं है। अमरनाथ की स्थिति यह है कि वह मिसेज सिंह को सचमुच प्यार करता है, उसके दुःख में दुःखी होता है। लेकिन वह एक भारतीय है और फिर उस पर हिन्दू है। अपने भारतीय तथा हिन्दू संस्कार की सीमा में आबद्ध अमरनाथ मि सिंह से अपनी सफाई में कहता है- मेरा आप लोगों के जीवन में आने का केवल एक मात्र सदुद्देश्य मिसेज सिंह को यथाशक्ति निरापद और सुखी बनाना है।' मि. सिंह एक ऐसा पात्र है, जिसका दावा है कि उसके वास्तविक रुप को बहुत कम लोगों ने देखा है, समझा है। उसमें इतना

साहस है कि वह अमरनाथ को कह सके कि वह मिसेज सिंह को अपनी पत्नी के रुप में ले जा सकता है। वह देख रहा है कि उसकी पत्नी उसकी नहीं है और हो भी नहीं सकती। फिर दाम्पत्य-जीवन की यह विडम्बना ही वह क्यों ढोए।इससे वह इसके लिए तैयार हो जाता है कि अपनी पत्नी को मुक्त कर दे। भुवनेश्वर जी की प्रस्तुत एकांकी में हमे मि सिंह के रुप में एक ऐसा जीवन्त प्राणी मिलता है, जिसमें यह साहस है कि वह पत्नी को उसके प्रेमी के लिए मुक्त कर दे और प्रेमी के आगे चुनौति रख दे कि यदि वह सचमुच अपनी प्रेमिका से प्यार करता है तो उसे पत्नी-रुप में स्वीकार करे नहीं तो अपना रास्ता नापे। जो पति अपनी पत्नी पर विजय नही पा सका, वह सुख क्या पायेंगा और जब सुख ही नहीं मिला तो विवाह-सम्बंध सारहीन है, व्यर्थ है- उसे किसी भी क्षण तोडा जा सकता है। भुवनेश्वरजी हिन्दू समाज में तलाक की व्यवस्था के पक्षपाती थे। दाम्पत्य जीवन की व्यर्थता, सारहीनता का बोझ न ढोना पडे अतः भुवनेश्वरजी एक विकल्प रोमांसः रोमांच के माध्यम से सुझाते हैं।

आपने 'लॉटरी' शीर्षक एकांकी में भी पति-पत्नी के जीवन में एक तीसरे व्यक्ति के आने से जो समस्या उठ खडी होती है उसे सुझाया है। माया के पति किशोर प्रवास में हैं और उनके दो बच्चे हैं। इस बीच माया प्रद्युम्न नामक एक अन्य पुरुष से प्रेम करने लगी है। वह जानती है कि समाज की प्रबल शक्ति के साथ बैर मोल लेना मामूली साहस का काम नहीं है। उसके सामने एक व्यावहारिक कठिनाई का सवाल भी खडा है। उसके और किशोर के बच्चों का क्या होगा? माया परिस्थितियों के चक्रव्यूह में इस कदर फँस गई है जिससे बाहर निकलना आसान नहीं है। वह सोचती है कि प्रद्युम्न अथवा माया इन दोनों में से किसी एक को मरना ही होगा। दूसरा विकल्प है कि उसके दोनों प्रेमी शक्ति के बल पर इसका निश्चय कर लें कि वह किसकी रहे, अथवा किशोर अपनी पत्नी की हत्या ही कर दे। किन्तु माया की हत्या से समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। प्रद्युम्न और किशोर के बीच लॉटरी की बात तय होती है। वह प्रद्युम्न को पिस्तौल का पहला फायर करने देगा। इस प्रकार वह स्वयं प्राण देकर माया के पथ से हटने को तैयार है। लेकिन इसके लिए प्रद्युम्न ही तैयार नहीं होता। वह पति-पत्नी के जीवन से हट जाता है। माया अपने पति के संसार में वापस आ जाती है। लेकिन क्या वह सचमुच वापस आ सकी है ? नही, उसका यह कहना है कि वह एक नया संसार बसाने जा रही है। उसका जो अतीत है, उससे सर्वथा भिन्न उसका एक नया जीवन उदित हो रहा है। इस नये जीवन की इमारत प्रद्युम्न के बलिदान की नीव पर खडी होगी। माया की समस्या को चाहे जो भी समाधान मिल गया हो, किशोर की समस्या का समाधान नहीं हो पाता। क्योंकि अंत में वह एक 'कटे वृक्ष के समान एक सोफे पर बैठते' दिखाया जाता है।

इस प्रकार इसमें स्त्री-पुरुष के नाते के भिन्न-भिन्न रुपों की प्रस्तुति की गयी है। पति-पत्नी के जीवन में आने वाले प्रेमी की समस्या के साथ ही इस एकांकी में उन बच्चों की समस्या भी उठायी गई है, जिनकी माँ पति से भिन्न अपने प्रेमी के प्रेम में आ जाती है। भुवनेश्वर जी ने अन्त में प्रद्युम्न को माया और किशोर के जीवन से बाहर ले जाकर एक समाधान, जो बहुत परिचित सा है, दिया है। लेकिन वे यह भी जानते हैं कि 'एक समस्या को सुलझाना कई समस्याओं का सर्जन करना है।'

भुवनेश्वर जी ने अपनी एकांकी 'स्ट्राइक' में भी स्त्री-पुरुष से सम्बंधित समस्या को प्रस्तुत किया है। एकांकी का नायक श्रीचन्द विवाह को एक गहरी समस्या मानता है। उसने सुना है, लोग कहते हैं - औरत को समझा नहीं जा सकता। वह कहता है- समझने की जरुरत ही क्या है? उसके मत में स्त्री और पुरुष जीवन की मशीन के दो पुर्जे हैं। मशीन का एक पुर्जा दूसरे को नापने-जोखने या समझने नहीं जाता। वह स्वयं इसी आदर्श के अनुरुप अपने जीवन मे व्यवहार करता है। वह अपनी पत्नी की गतिविधि के प्रति निरपेक्ष है। पत्नी भी अपनी जिन्दगी जीती है, जैसा चाहे व्यवहार करती है। दोनों ने अपनी-अपनी जगह को समझ लिया है और फिर वहाँ से दोनों में से कोई हटता नहीं। इसी का परिणाम है कि दोनों में बिगाड नहीं हुआ। दाम्पत्य-जीवन का यह जो नक्शा श्रीचन्द ने खींच रखा है, क्या वह दाम्पत्य-जीवन की समस्याओं का समाधान कर पाता है? ऐसे प्रश्न एकांकीकार ने यहाँ खडे किए हैं। यदि यह मान भी लिया जाए कि स्त्री और पुरुष दो अलग-अलग पुर्जे हैं तो भी उन्हें एक मशीन में 'फिट' तो रहना ही है। कहीं ऐसा हो कि मशीन का एक पुर्जा बिगड़ ही जाय तो मशीन तो ठप हो जाएगी। श्रीचंद की स्थिति इससे विपरीत नहीं है। तब जिन्दगी की मशीन का दूसरा पूर्जा क्या करे? पति-पत्नी के अपनी-अपनी राह चलने से जीवन नहीं चलता है। भुवनेश्वरजी ने स्थिति की इसी विद्रूपता के प्रति करते हुए दूसरे पात्र के मूँह से कहलाया है-"मेरे होटल में आइए, आपकी फैक्टरी में तो आज स्ट्राइक हो गई।"[50] आज की नारी पुरुष की आश्रिता बन कर रहना नहीं चाहती। श्रीचंद अपनी पत्नी को पूर्ण स्वतंत्रता देता है कि वह जैसे चाहे रहे। घर में नौकर नहीं है तो कोई हर्ज नहीं, बाजार से सालन मँगा लेगा और दो रोटियाँ घर पर पक जायेंगी।"[51] लेकिन इतने पर भी वह देखता है कि उसकी पत्नी दिनों से ऐसी-वैसी हो रही है। स्पष्ट है, इतने पर भी उसका दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं है। प्रस्तुत एकांकी में एक सीधा-सा सवाल नयी पीढी के युवक ने श्रीचंद की पिछली पीढी से पूछा है- 'आप मुझे बतलाइए, आप लोगों ने दुनिया को क्या दिया? आपने अपने नए विचारों से कौन से तीर मारे हैं ?'[52] यदि इस प्रश्न का उत्तर हो- 'नये वैज्ञानिक आविष्कार' तो उत्तर गलत होगा।"[53] यह इसलिए कि वैज्ञानिक आविष्कारों की तो एक पूरी स्कीम है, जिसमें पीढियों और समाज का कोई दखल ही नहीं है, वह तो प्रकृति धीरे-धीरे अपने आपको पूरा कर रही है।"[54] श्रीचंद की पीढी वैज्ञानिक प्रगति को अपने गर्व तथा अपनी चरितार्थता का आधार तथा

प्रमाण नहीं बना सकती।

'शायद' में मोहन-राकेशजी ने स्त्री-पुरुष सम्बंधों पर विचार करते हुए, गहराई में झाँकना चाहते हैं। क्या हो गया है कि दाम्पत्य जीवन में ऊब ही ऊब है। पुरुष अकेलापन क्यो अनुभव करता है ? और स्त्री को क्यों लगता है कि वह जैसे भार ढो रही है। यह खालीपन का बना रहना आज की अस्मिता के संदर्भो में मानवीय मानसिकता की शायद नियति ही बन चुकी है। आज के मध्यवर्गीय परिवार के विवाहित जोडों का समय तो अनेक कृत्रिमताओं, सुख-सुविधाओं में बीतता, बल्कि रीतता जा रहा है पर इनके बीच में जो एक अनचाहा गैप या रिक्तता उभरती जा रही है, क्या कभी इस ऊब से निजात पाया जा सकेगा? सम्बंध केवल स्त्री-पुरुष बने रहने के लिए विवश हैं - ऊबकर, अलगाव की मनोवृत्ति और अनेक प्रकार की पारस्पिरिक अतृप्तियाँ लेकर भी विवश है, शायद! तलाश है उसकी - "जो आदमी को रोज-रोज एक नया उत्साह दे और ... जो है, इसमें कुछ नहीं है।" शायद मानव की मानसिकता किसी निर्णय पर पहुँच सके। एक संभावना में, एक तन्नाये तेवर में स्थिति की जडता- ज्यों की त्यों। असम्बद्ध से सम्बंधों को झेलने और जिये जाने की संभावना ही एक बीज रह गया है शायद आगामी जिन्दगी का एकांकी की स्त्री के ये शब्द ही एक प्रकार से चिरन्तन सत्य प्रतीत होने लगते हैं- 'और बस। पति-पत्नी बनकर भी मध्य वित्तीय-जन केवल स्त्री-पुरुष बनकर जीवन ढोते जायें। इस प्रकार स्त्री कई बार दार्शनिकों की तरह बात करती दिखायी देती है। छोटी-सी गृहस्थी है पर उसमें विश्रान्ति नहीं। आज के मध्यवर्गीय समाज की यही स्थिति है। एक नीरस जीवन ढोते जाने की विवशता।

हिन्दी एकांकीकारों ने दाम्पत्य जीवन की विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है। श्री राजेन्द्रकुमार के एकांकी 'अटैचीककेस' का संबंध मध्यवर्ग से है। शंकर और उसकी पत्नी सरोज जब घर लौटते हैं तो उन्हें कमरे में मेज पर रखा एक अटैचीकेस दिखाई देता है। दोनों अनुमान लगाते हैं कि कौन आया होगा, नौकर धनिया से पूछते हैं। वह ठीक हुलिया बताने में असमर्थ रहता है। सरोज अनुमान लगाती है कि उसका भाई सतीश आया होगा। वह एकदम रसोई में जाकर खाना बनाने में जुट जाती है और पति को बाजार सामान लेने रात को नौ बजे होने पर भी भेज देती है। जैसे ही शंकर जाने लगता है कि वह अटैची के नीचे रखे अपने भाई रमेश के पत्र को पढता है कि वह आज पहुँचने वाला है। जब सरोज को यह पता चलता है कि उसका भाई नहीं उसके पति का भाई आया है तो वह भोजन बनाना एकदम छोडकर थकावट का बहाना लेकर बिस्तर पर लेट जाती है और पति के लाख कहने पर भी भोजन बनाने को तत्पर नहीं होती। इसी समय नरेन्द्र घर में प्रवेश करता है और बताता है कि वह एक मीटिंग अटैन्ड करने आया था और अटैची यहाँ रख गया था, अब टैक्सी

खडी है और वह वापस जा रहा है। दोनों पति-पत्नी हंसते हैं कि अटैचीकेस था या एटम बम। शंकर कहता है- 'अटैची वाला न तुम्हारा भाई न मेरा भाई, फिर काहे की लडाई।' लेखक का उद्देश्य स्त्रियों में विशेष कर पत्नियो में अपने और पराए की भावना को दर्शाना है। सरोज अपने भाई के लिए सब कुछ करने को तैयार है, परन्तु पति के भाई के लिए नहीं। इस संकीर्ण मनोवृत्ति पर हलका-सा व्यंग्य है।

रमेश मेहता द्वारा रचित 'पागल बनकर' हास्य रस से परिपूर्ण उन पत्नियों पर व्यंग्य है जो अपने दुष्ट स्वभाव के कारण अपने पतियों का जीवन दूभर कर देती है। इसका नायक रामलाल वर्मा एक ऐसा ही अभागा पति है। उसका जीवन पत्नी चन्द्रा के कारण अत्यत दुखी है। उसने अपने जीवन के लम्बे पन्द्रह वर्ष किसी प्रकार व्यतीत किए हैं। अंत में वह पागल बनकर पागलखाने चला जाता है और पागलों जैसा व्यवहार करने लगता है। रामलाल वर्मा का एक मित्र रोशनलाल उससे मिलने आता है। वह रोशनलाल को वस्तुस्थिति बता देता है। एक नर्स इस समस्त कहानी को सुन लेती है। उसकी पत्नी को सबकुछ बता दिया जाता है। उसकी पत्नी जो अब तक पति के साथ अच्छा व्यवहार करती है, अब उसकी अच्छी खबर लेती है और कहती है कि अब मैं यहाँ पागल बन रहूँगी। रामलाल वर्मा वहाँ से चला जाता है।

नारी जीवन की त्रासदी :

पुराने मूल्यों की इस टूटन के पीछे नारी की बौद्धिक प्रक्रिया का तेज होना है। वस्तुतः नारी के विषय में समाज शास्त्रियों तथा लेखिकाओं ने नयी दृष्टि से विचार किया है। इन मनोविश्लेषकों ने यह नहीं माना है कि नारी की कमजोरी में उसकी जैविकीय स्थिति या शारीरिक स्थिति है। वस्तुतः विश्व के समाज में नारी की कमजोरी के पीछे पूरे समाज की विकृत सोच है। परिवार में लडके और लडकी के बीच विभेद की प्रक्रिया शैशवावस्था से ही प्रारंभ हो जाती है। बालक जहाँ तीर-तलवार और बॅदूक से खेलता है, वहाँ बालिका को गुड़िया थमा दी जाती है। इस तरह वह गुड़ियों से खेलत-खेलते जीवन में गुडिया बन जाती है। वस्तुतः पराश्रयता का इतना गहरा बोध उसके मानस में होता है कि वह अपने भविष्य के जीवन में भी यही सपना संजोने लगती है। अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास करने की जगह वह सपने देखने लगती है। उसे लगता है कि उसके जीवन में कोई राजकुमार आएगा और अचानक ही उसके ऑचल में खुशियों के फूल बिखेर देगा।[55] उसका यह सपना तब टूटता है, जब जीवन में विभत्स यथार्थ से उसका साक्षात्कार होता है। इस यथार्थ मे नारी और पुरुष के बीच एक तरह का सेवक-सेव्य भाव उपस्थित हो जाता है। आज के बौद्धिक युग में सिमोन की इस अवधारणा से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है कि नारी के व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास होना चाहिए।

'अश्क' जी ने 'खिडकी' एकांकी के माध्यम से यह प्रस्तुत किया है कि व्यक्ति को व्यक्तिनिष्ठता से ऊपर उठकर कर्तव्यनिष्ठ बनना चाहिए। प्रेम केवल पाने का नाम नहीं है। प्रेम का आधार ही त्याग है। आज बहुत ही ऐसी समस्याएँ उपस्थित हो रही हैं जो प्रेम और उससे संबंधित होती है। नवयुवक-नवयुवतियाँ केवल प्रेम को पाना ही इसका अर्थ समझते हैं और इसको पाने के लिए कई गलत कदम बिना सोचे समझे उठा लेते हैं। आए दिन ऐसा सुनने को मिलता है कि अमुक ने आत्महत्या कर ली तो अमुक भाग गया लेकिन इसको पाने के लिए त्याग की भावना रखना ही बुद्धिमता है फिर तो ऐसी कई समस्याओं का हल अपने आप ही हो जाएगा जो प्रेम से जुडी हुई हैं। 'अश्क' की प्रस्तुत 'खिड़की' एकांकी में एक बात और गौर करने की है कि स्त्री ही क्यों इंतजार करती हुई दर्शायी जाती है इसके लिए वे ही क्यों बाध्य होती हैं। कभी कोई पुरुष किसी स्त्री के लिए क्यों नहीं बरसों प्रतीक्षा करता है। जबकि वह भी तो समान रुप से अपने प्रेम का दावा करता है फिर केवल स्त्री को ही इसे जन्मान्तर निभाती चली आई है। कभी कोई पुरुष किसी स्त्री के लिए इतने बरसों प्रतीक्षा नहीं करेगा फिर स्त्री-पुरुष की समानता का दावा करना कहाँ तक उचित है। केवल उसी से क्यों त्याग की अपेक्षा की जाती है। यह एक बड़ी समस्या है। इस पर गौर करना चाहिए।

'अशोक-वन' एकांकी में मिश्रजी ने नारी समस्या को प्रस्तुत किया है। उन्होंने नारी के सतीत्व और एक पत्नी प्रेम पर विशेष बल दिया है। सीता, मंदोदरी और चित्रांगदा तीनों ही नारियों के सतीत्व का उदाहरण उपस्थित करते हैं। सीता के द्वारा एक पत्नी प्रेम के सुंदर तर्क एकांकीकारने प्रस्तुत किये हैं। चित्रांगदा जब एक स्त्री के पीछे दो प्रतापी पुरुषों के संघर्ष की बात कहती है तब जानकीजी कहती हैं- "तब कहो कि स्त्री भी भूखण्ड है, धन की पिटारी या मणिमाला है, जो जीतेगा उसे उठा लेगा। उसकी न कोई रुचि है न कामना।" चित्रांगदा यह स्पष्ट करती है कि जहाँ भी नारी छली गई है, उसमें नारी ही कारण रही है - "यदि नारी की सहायता न हो, तो पुरुष कभी नारी को छल नही सकता है। जहाँ कही भी नारी छली गई, किसी-न-किसी नारी के कारण। पुरुष संसार जीत सकता है। सिंह और मतवाले हाथी को वश में कर सकता है, किन्तु नारी उसके लिए सदैव अजेय है।"[56] अतः प्रस्तुत एकांकी की अवतारणा के माध्यम से मिश्रजी उस मानसिक दासता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जहाँ एक ओर तो नारी समानता, नारी स्वतंत्रता जैसी बडी-बडी उद्घोषणा की जाती हैं। वहीं दूसरी ओर आज भी सदियों से चले आ रहे पुरुष प्रधान समाज में नारी की दशा ज्यों की त्यों बनी हुई है। वह आज भी पुरुष के गर्व और बल द्वारा प्रताडित हो रही है। उसे आज भी केवल भोग्या, सम्पत्ति, वस्तु आदि रुपों में ही देखा जाता है। यह स्थिति सोचनीय है, विचारणीय विषय और महत्वपूर्ण तथ्य है। नारी के स्वतंत्र अस्तित्व की समस्या को 'अशोक-वन' एकांकी के माध्यम से प्रस्तुत करने में मिश्रजी पूर्णतः सफल रहे हैं।

'आत्मदान' शीर्षक एकांकी में भट्टजी की पति-पत्नी के विवाह-बंधन विषयक विचारों की समीक्षा से यह प्रत्यक्ष है कि पति विवाह-बंधन को अधिक लचीला बनाने का आग्रही है और इस अर्थ में वह अधिक उदार होने की संभावना रखता है। लेकिन पुरुष की अहमन्यता, उसका दर्प यह गवारा नहीं कर पाता कि मि. माथुर सरला के साथ एकांत में हँसे-खेलें। ऐसे ही एक क्षण में पति की प्रतिक्रिया बडी तीखी, तल्ख हो जाती है। पति अपनी प्रियतमा को पत्नी की छाती पर चढ़ाये रखने में दोष नहीं देखता, लेकिन पत्नी की स्वतंत्रता उसे खलती है। भट्टजी सुषमा के माध्यम से समाधान निर्देशित करते हुए कहते हैं कि सरला का वैवाहिक जीवन इसलिए सफल नहीं हो पाया कि उसमें आत्म-समर्पण का अभाव है। यह अभाव भी इसलिए है कि सरला की आधुनिक शिक्षा ने उसके अभिमान को उग्र से उग्रतर बनाया है। वह कहती है- "दो का एकात्म हो जाना ही प्रेम है। निर्वाह उस एकात्मकता का ही नाम है। उसमें फिर न रुप-सौन्दर्य का अभाव ही बाधा डालता है, न व्यक्तित्व। दो व्यक्तियों का मिल जाना, एक हो जाना प्रेम का परिणाम है उसकी सीमाएँ फिर अनन्त हो जाती हैं।"[57] इससे सिद्ध हुआ कि दाम्पत्य-जीवन की सफलता हेतु अपेक्षा है- 'आत्मदान' की। सरला की आपत्ति है- 'यह आत्मदान पहले नारी ही क्यों करे। पुरुष क्यों नही करे? सुषमा का वस्तुवाद इसका उत्तर देते हुए कहता है- "इसलिए कि पुरुष आर्थिक और सामाजिक पहलू से पहले ही मजबूत चला आ रहा है।"[58] इस प्रकार पुरुष और नारी की समस्या को भट्टजी नारी की आर्थिक परवशता और सामाजिक असमानता से उत्पन्न समस्या है। तो क्या यह उचित नहीं होगा कि इस असमानता और विवशता की समस्या का ही निदान ढूँढे, जिसके तले नारी पिस रही है? इस एकांकी की समस्या को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। आज का शिक्षित समाज आधुनिकता के मोह में पाश्चात्य संस्कृति के अनुसार दाम्पत्य जीवन में भी स्वच्छन्दता और भोग की अधिकता का हिमायती है। यह स्वस्थ पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का आधार नहीं है। पति-पत्नी के सम्बंधों में विश्वास, प्रेम और उदात्त दृष्टिकोण का होना अति आवश्यक है। इनके अभाव में अहम्-वृद्धि, समान अधिकार के विचार, परदोष दृष्टि आदि जीवन को कटु बनाने में सक्षम हो जाते हैं।

'सोहागबिन्दी' शीर्षक एकांकी में श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी जी ने प्रतिभा की यौन-समस्या को चित्रित किया है। पति काली बाबू की निरपेक्षता के कारण पत्नी प्रतिभा का यौन-भाव अतृप्त रहा। सामाजिक मर्यादाओं के बंधन के कारण वह अपने प्रेम का इजहार चाहने पर भी विनोद से नहीं कर पाती है। वह घुट-घुट कर प्राण त्याग देती है, किन्तु दहलीज पार करने का साहस नही करती है। उसका सम्पूर्ण जीवन एक विरहिणी नारी, आक्रान्द एवं करुण कहानी बन जाती है। प्रश्न उठता है कि उसे जीवन में त्याग और महानता का फल क्या मिला? केवल ऊब, तडप और पीडा।

'अश्क' जी की 'पापी' शीर्षक एकांकी में शांतिलाल पापी दर्शित होता है। एक ओर तो शांतिलाल मरणासन्न पडी पत्नी से विश्वासघात करता है तो दूसरी और उसी की बहन भोली-भाली रेखा से प्यार का नाम देकर उसके भोलेपन का नजायज फायदा उठाता है। शांतिलाल रेखा के प्रति बुरी तरह आकर्षित होकर वासना का क्रीतदास बन जाता है। वह मरती पत्नी छाया के पास सांत्वना के लिए जाता तक नहीं, और छाया अपनी छाती पर होते हुए इस विलासमय दृश्य की कठोरता से कराह उठती है। रेखा सचेत हो जाती है। छाया अपने पति द्वारा छले जाने पर बहुत ही व्यथित होती है। हिन्दू-नारी की महानता को 'अश्क' जी ने यहाँ चित्रित किया है। वह अपने पति को पति परमेश्वर मानती है। जन्म-जन्मांतर पाने की इच्छुक रहती है चाहे उसके साथ किसी प्रकार का भी व्यवहार किया गया है। वह पति के विश्वास के सहारे बडे से बडे दुःख को भी आसानी से सह लेती है। पुरुषों द्वारा किए जानेवाले अत्याचारों को सहते हुए भी वे सात जन्मों तक उसकी पत्नी बनने की इच्छा रखती है। भारतीय नारियों में यह पति भक्ति सर्वाधिक पायी जाती है। आने वाले सात जन्मों तक उसी पति को पति-रुप में पाने के लिए तीज-त्यौहार करवा चौथ जैसे तरह-तरह के व्रत और उपवास रखती है। क्या पति भी उसी पत्नी को पत्नी रुप में सात जन्मों तक पाना चाहता है? यह प्रश्नचिन्ह हमारे समाज के समक्ष उठता है कि पति एक इसी जन्म में विश्वास पात्र बनकर रह पाए तो भी गनीमत ही समझना चाहिए। सहनशक्ति की मूर्ति के सम्बोधन के साथ स्त्रियों पर नित तरह-तरह से उन्हें सताया जाता है। उन पर अनेक अत्याचार किये जाते हैं। प्रस्तुत एकांकी सी भावभूमि पर आधारित समस्या एकांकी है।

'दूसरा उपाय ही क्या है?' एकांकी में श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी जी स्त्रियों की दयनीय दशा तथा उनकी बेचारगी को चित्रित किया है। विवाह की मर्यादा को तोड सकने और अपने प्रिय को फिर से प्राप्त कर सकने की सुविधा हिन्दू नारी को नहीं होती है। इसके लिए उसके लिए यही संभव है कि वह अपने हृदय पर पत्थर रख ले और समाज के कठोर विधान के आगे गर्दन झुका दे। दूसरा उपाय ही उसके लिए क्या हो सकता है? जब तक हमारे समाज में धन-सम्पत्ति को प्रेम के बिरवे पर अमरलता की तरह छा जाने की सुविधा प्राप्त रहेगी, कितने ही सित्तों और सुरेश की हत्या होती रहेगी। इस सत्य की व्यंजना प्रस्तुत एकांकी में की गई है।

'वेश्या' एकांकी में 'अश्क' जी ने समाज के सर्वथा हीन, उपेक्षित और कलंकित वर्ग की नारी में पनप रहे अहम् की प्रतिक्रिया को निरुपित किया गया है। यह व्यक्तिवादी चेतना है। प्रस्तुत एकांकी मे जवाहर को एक ऐसी उद्दाम वासना-ग्रस्त नारी के रुप में प्रस्तुत किया गया है जो अपनी वासना की आपूर्ति के अनुभव से ही आहत होकर उसका अन्तर्मन व्याकुल है। वह मोती से अपनी आंतरिक पीडा को व्यक्त करते हुए कहती

है- 'मोती मैं दौलत नहीं चाहती थी, मैं भी मुहब्बत चाहती थी, लेकिन मुहब्बत मेरे भाग्य में कहाँ है ?"[59] माँ और बेटी का एक ही व्यक्ति के साथ प्रेम करना सर्वथा अनुचित-सा लगता है और अव्यावहारिक भी। कुछ रिश्ते जैसे माँ-बेटी का रिश्ता यह रिश्ते वेश्या धर्म से ऊपर ही रखना चाहिए। लेकिन प्रस्तुत एकांकी में ऐसा नहीं दिखता है। 'अश्क' जी शायद यह बताना चाहते हैं कि उद्दीप्त वासना की स्थिति में इन्सानियत की तमाम कीलें उखड जाती हैं और आदमी यह सोच-विचार करने की स्थिति में नहीं रहता है कि वह क्या कर रहा है? मेरी दृष्टि से सबसे बडी समस्या तब उठ खडी होती है जब मनुष्य विवेक-शून्य होकर वासना के वशीभूत घिनौने कृत्य करने में भी संकोच नहीं करता है। दैनिक पापाचार जो जहाँ-तहाँ सुनने को मिल रहे हैं उनके मूल में यही कारण निहित है। स्वस्थ समाज के लिए यह एक अभिशाप है। ऐसी समस्याओं से जुझना आम जनता और समाज के लिए दुष्कर प्रतीत हो रहे हैं।

नारी जीवन की करुणा आक्रान्द, उसका विरह तथा उसकी व्यथा को लेकर एकांकीकारों ने इस प्रकार अनेक एकांकियों की रचना की है। 'अश्क' जी ने 'खिड़की', 'चुम्बक', 'कामदा' और 'पापी' एकांकी के अतिरिक्त 'चरवाहे', 'मैमुना' और 'चिलमन' एकांकियों में भी इसी विषय को चित्रित किया है। 'चरवाहे' में प्यार और सहानुभूति की भूखी रत्नी मामी के अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करके गोविन्द जिससे उसे भरपूर प्यार मिला उसके साथ भाग जाती है। 'अश्क' जी यहाँ प्रश्न करते हैं कि क्या रत्नी को ऐसे कदम उठाने के लिए उसकी परिस्थितियाँ नहीं उकसाती हैं? किसी भी मनुष्य को जब रुढिगत बंधनों में आवश्यकता से अधिक जकडा जाएगा। उसके क्रिया-कलापों पर पाबंदी लगायी जायेगी तो विद्रोह अवश्य होगा। अतः यहाँ लेखक ने रुढिबद्ध एवं प्रगतिशील जीवन में सघर्ष प्रदर्शित किया है। 'मैमूना' एकांकी में उन्होंने मैमूना के दुःखी जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है जिसे स्वयं अपनी ही माँ द्वारा उपेक्षा और घृणा मिली है। आधुनिक समय में भी स्त्री-जाति के साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया जाता है जैसाकि प्राचीन समय में किया जाता था। जो व्यवहार मैमूना के साथ किया गया है। आमना एक नारी है जो पुरुषों के साथ खिलवाड करती रहती है और मैमूना जो उसी की ही लडकी है उसके साथ वह बुरा सलूक करती है। शायद आमना को यह प्रतिक्षण भय लगा रहता है मैमूना का। वह उसे अपने स्वच्छन्द जीवन में हस्तक्षेप मानती है और इसलिए वह अपनी ही बेटी से नफरत करती है। एक नारी का दूसरी नारी जो स्वयं उसी की बेटी है। उसके प्रति इतना क्रूर व्यवहार देखकर नारी के ममतामयी स्वरुप पर प्रश्न चिन्ह-सा लग जाता है। नारी ही नारी की सबसे बडी शत्रु है। यह कहावत यहाँ भली-भाँति सिद्ध हो जाती है।

'अश्क' जी ने 'कामदा' शीर्षक एकांकी द्वारा नारी जीवन की त्रासदी को व्यक्त किया है। नारी प्रकृति

से ही सरल होती है। वह इतना पढ़ लिख जाने के बाद भी आसानी से छली जा रही है। पुरुष आज भी उसे वैसे ही छल रहा है। आज की पढी-लिखी आधुनिकाएँ बाहरी चकाचौंध से इस कदर प्रभावित हो जाती हैं कि उन्हें उबार पाना मुश्किल है। विवाह जैसे महत्वपूर्ण फैसले भी वे विवेक से नही कर पाती है जिसका परिणाम उन्हें निरंतर भुगतना पड़ता है। हमें केवल बाहरी रुप ही नहीं आंतरिक सौन्दर्य को भी देखना चाहिए। झूठे चकाचौंध में डूबना हानिकारक परिणामों की ओर निरंतर अग्रसर करता है। हालांकि मुकुन्दबिहारी एक गरीब प्राध्यापक है किन्तु विवाहोपरांत वह कामदा को अपनी ओर से सारे सुख प्रदान करने में जुट जाता है। केवल पैसे से ही गृहस्थ जीवन सुखी नहीं हो सकता है। प्रस्तुत एकांकी में आधुनिकता के नाम से नयी पीढ़ी को आकर्षित करने वाले तत्वों के प्रति सावधान किया है। आधुनिकतम वेशभूषा, संभ्य व्यवहार, मधुर-मृदु बातें तथा सम्पत्ति की चकाचौंध को दर्शाना आदि कतिपय बातें आकर्षण के प्रमुख तत्व हैं। गृहस्थ जीवन की नींव एक दूसरे के समर्पण भाव और प्रेम के बल पर रखी जानी चाहिए न कि झूठ-फरेब पर। यदि आधार ही जर्जर होगा तो इसकी विफलता निश्चित है। 'अश्क'जी प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से आधुनिकाओं के लिए यह आवश्यक संदेश प्रसारित किया है जिनका अनुकरण कर नारी अपना भावी जीवन सुधार सके और विवाह जैसे महत्वपूर्ण फैसले अपने विवेक से करे। एकांकी का संकेत आधुनिकाओं की वैवाहिक समस्या की ओर है। कामदा त्याग, प्रेम आदि को उपयोगिता, सुख-ऐश्वर्य के तराजू में तौलती है। यही कारण है कि वह एक लम्पट कांत के पाश में फँसने को तत्पर हो जाती है। परन्तु अंत में कांत की तीसरी पत्नी आ जाती है और उसका सारा चरित्र स्पष्ट हो जाता है। कामदा अपने प्रेमी मुकुन्द के साथ अनिच्छापूर्वक विवाह करती है। आधुनिक सभ्यता की ऊपरी चकाचौंध से उसकी ऑखें मुँदी हैं, परन्तु समय की माँग, वंश-प्रतिष्ठा के कारण वह विवाह स्वीकार कर लेती है। प्रस्तुत एकांकी में मनुष्य के प्रकृत सद्गुणों और मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा मानव-मूल्यों के समक्ष धन हेय है, तुच्छ है जबकि साहचर्य किसी भी खाई को पाट सकने में समर्थ है। ऐसा संकेत स्थापित है।

'चुम्बक' एकांकी द्वारा आपने गोपा के चरित्र द्वारा लेखक ने नारी के अत्यावश्यक गुणों-स्वाभिमानी, सहनशक्ति, संयम, शक्ति आदि को दर्शाया है। नारी के अस्तित्व के लिए ये आवश्यक गुण हैं और आज समय की माँग भी यही है। अन्यथा नारी को बडी आसानी से छला जा सकता है। नारी को अपनी शक्ति, अपना सम्बल स्वयं ढूँढना है। स्त्री-पुरुष परस्पर लौह-चुम्बक की भाँति एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं किन्तु नारी के लिए स्वप्न लोक से बाहर निकलकर सोच-विचार कर ऐसे गंभीर मार्ग तय करना ही हितकर है। इससे ऐसी कई समस्याओं का हल स्वयं ही हो जाएगा जो उनकी स्वयं की नादानी-बचकानी हरकतों से उनके साथ घटित होती हैं। 'चुम्बक' प्रतीक यहाँ स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को अभिव्यक्त करता है

परन्तु ऐसे क्षणों में भी विवेक बुद्धि अति आवश्यक है खासकर स्त्रियों के लिए तो नितांत जरुरी है कि वे अपने मार्ग को सोच-विचार कर तय करे अन्यथा उन्हें बडी आसानी से छला जा सकता है।

'बुद्ध की एक शिष्या विशाखा' एकांकी में सेठ गोविन्ददासजी ने कई महत्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डाला है, जैसे अंतर्धार्मिक विवाहों का निभाव कैसे हो? पुत्र-वधू के साधारण से कार्यो पर शक-सुबह की दुष्प्रवृत्ति, आदि। विशाखा बुद्ध के एक शिष्या है , जिसके जीवन के परिवर्तन की एक झाँकी यह प्रस्तुत है। उसका विवाह पुष्यवर्धन से होता है। इस प्रकार यह एक अन्तर्धार्मिक विवाह होता है। मार्ग में कई गलतफहमियाँ फैलती हैं, जो विशाखा की बुद्धिमता से दूर होती हैं। विशाखा को विदा करते समय हिन्दू संस्कृति के अनुसार विशाखा के पिता धनंजय कहते हैं : "बेटी, तेरा जाना अवश्यंभावी है। तू जायेगी ही... पिता के कूल की सारी प्रतिष्ठा पुत्री के आचरण पर निर्भर रहती है। तेरे विदा करने के पूर्व फिर से वे ही दस बातें तुझे स्मरण दिलाता हूँ, जो तुझे अनेक बार कह चुका हूँ और जिनका अर्थ तू भली भाँति जानती है। यह उपदेश विशाखा के ससुर मिगारा सुन लेते हैं और इस उपदेश का गलत अर्थ लगा कर विवाह के दूसरे दिन ही विशाखा को घर से निकलने को कहते हैं। विशाखा अपने ऊपर लगाये गये इल्जाम को गलत सिद्ध कर अपने पिता के उपदेश को स्पष्ट करती है-

"विशाखा- पिता जी, यदि आप सारे उपदेशों का अर्थ समझ लेंगे तो अंतिम उपदेशों का आपने जो भ्रमपूर्ण अर्थ निकाला है, उससे विपरीत अर्थ निकालेंगे। घर के भीतर की अग्नि बाहर न ले जाने का अर्थ है कि मैं आपके, माताजी के, मेरे प्रिय पति के घर के किसी भी व्यक्ति के दोषों को बाहर न ले जाऊँ। बाहर की अग्नि भीतर न ले जाने का अर्थ यह है कि यदि मैं बाहर आप लोगों में से किसी के भी किन्हीं दोषों का श्रवण करुँ तो उन्हें आप लोगों से कह आप लोगों को दुःखी न करुँ। केवल उसी को देना जो दे का अर्थ यह है कि घर-गृहस्थी में लूटनेवालों की कमी नहीं है अतः उन्हीं को देना चाहिए जो दी हुई वस्तुओं को लौटा दे। उसे कुछ न देना जो कुछ न दे का अर्थ यह है कि यदि समय पर हमें कोई सहायता नहीं देता तो हमें भी ऐसा व्यक्ति की सहायता नहीं करनी चाहिए जो हमें कुछ नहीं दे सकते। अग्नि को प्रज्वलित रखने का अर्थ है कि वधू को अपने पति, ससुर, सास आदि के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति को सदा प्रज्वलित रखना चाहिए। उन्हें प्रतिष्ठित रखना जो घर के मानवों से भी ऊँचे हों का अर्थ यह है कि अपने कुल देवताओं को आदर देना। सुख से बैठने का अर्थ यह है कि वधू को तब बैठना चाहिए जब घर में कोई कार्य न रहे अर्थात् उसे आलसी नहीं होना चाहिए और सुख से खाने और सुख से सोने का यह अर्थ है कि उसे तब खाना और सोना चाहिए जब उसके पूज्यजन खा चुके हो और सो गये हों।"[60] इस प्रकार सम्मिलित कुटुंब की परम्परा के दोष, शादी-विवाहों के मामलों मे बाहर वाले व्यक्तियो का अनुचित हस्तक्षेप और समाज मे स्त्री-पुरुष के अधिकारों की

असमानता आदि महत्वपूर्ण समस्याओं पर भी प्रस्तुत एकांकी में प्रकाश डाला गया है।

कर्नल टॉड तथा डॉ. गौरीशंकर हीराचंद्र ओझा के 'राजपूताने का इतिहास' से कथावस्तु लेकर 'कृष्णाकुमारी' एकांकी की रचना गोविन्ददासजी ने की है। मेवाड़ की इस कन्या को मारवाड और जयपूर के अधिपति अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं। सिंधिया महाराज 'मान' की ओर से आया जो राणा को फुसलाकर यह प्रस्ताव करता है कि उसका विवाह कृष्णा से कर दिया जाय। सिंधिया क्षत्रिय नहीं, शूद्र है। अजितसिंह कहता है कि राजकुमारी का निधन ही मेवाड़ का संकट टाल सकता है। वीरबाला कृष्णा बलिदान के लिए प्रस्तुत हो जाती है और अंत में उसे विष का प्याला दे दिया जाता है। प्रस्तुत एकांकी में हिन्दू-वर्ण व्यवस्था, विवाह पद्धति, जाति-बिरादरी की संकीर्णता पर व्यंग्य है। स्त्री जाति की दुर्दशा पर आठ-आठ ऑसू बहाये गये हैं। कृष्णा पूछती है- "पुरुष के विवाह के सम्बंध में स्त्रियाँ चाहे न लडें पर स्त्री के विवाह के सम्बन्ध में पुरुष प्रायः क्यों लडते हैं। इस पर पटनारी कहती है- इसलिए क्योंकि वे स्त्री को जीवित नहीं एक निर्जीव पदार्थ मानते हैं। वे समझते हैं जिस प्रकार राज्य, धन, सम्पत्ति इत्यादि पर मलकियत प्राप्त करने का उन्हें नैसर्गिक अधिकार है, उसी प्रकार स्त्री पर भी।"[61]

युगों से त्रस्त भारतीय नारी जब पुरुष की दासता से मुक्त हुई तो स्वाभाविक ही था कि उस समाज के प्रति उसके अर्द्ध-चेतन मन में घृणा हो जिसने युगों से उसे दासी बनाकर उसका शोषण किया था। अतः आधुनिक युग में शिक्षित भारतीय नारी वैवाहिक परम्परा के प्रति विद्रोह के लिए तत्पर हुई। इसलिए कुछ नारियाँ पति के दबाव में न रहने के कारण अलग हो जाती हैं तो कुछ अविवाहित लडकियाँ पिता के परिवार में बहुत अधिक बंधनों के कारण घुटन का अनुभव करती है और वे माता-पिता के दबाव से भी मुक्त होना चाहती हैं।

डॉ. वर्मा का "रजनी की रात" शीर्षक एकांकी नाटक, समस्या की प्रस्तुति की दृष्टि से एक विशिष्ट रचना है। इसमें इस बात का विचार किया गया है कि व्यक्ति के लिए समाज की अपेक्षा है या नहीं। पाश्चात्य शिक्षा के वेगवान प्रभाव ने हमारे सामने जो समस्याएँ उठाई हैं उनमें एक समस्या यह भी है। एकांकीकार ने प्रस्तुत एकांकी में इसी प्रश्न के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है। इसमें यह प्रतिष्ठित किया है कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। आधुनिक सुशिक्षित सभ्य समाज में नारी स्वतंत्रता होने के बावजूद भी यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि स्त्री के अस्तित्व के लिए पुरुष की आवश्यकता महत्वपूर्ण है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ. वर्मा ने प्रस्तुत एकांकी की सृष्टि की है। रजनी एक ऐसी ही नारी है जो स्वतंत्र

अस्तित्व में विश्वास रखती है। उसके मत में स्त्री के लिए पिता या पति की कोई आवश्यकता नहीं है। वह कहती है- 'समाज ने जो जंजीरों से कसा हुआ है पुरुष स्त्री पर अधिकार दिखलाता है। जैसे जिन्दगी में अधिकार के सिवाय कुछ नहीं है। परिवार में हुआ आदमी कुछ नहीं कर सकता। जिन्दगी की जरुरतों को पूरा करते हुए सोता है जागता है।..... एक ही रास्ता, एक ही चाल, एक ही दूरी मुझे इससे घृणा हो गयी।'.... मैं समाज का बंधन नहीं चाहती। मैं ममता और मोह के बंधनों को तोडकर स्वतंत्र विचारों में विश्वास रखती हुँ"[62] हमारे समाज में सबसे पहले पिता लड़की को कमजोर बना देता है। वह समझ लेता है कि लडकी का विवाह करना है। उसे वह पढ़ाता-लिखाता है इसलिये कि लड़की का विवाह अच्छी जगह कर सके और फिर वही लडकी पति के घर वालों की गुलाम हो जाय, उन्हें खाना पकाकर खिलाये और खुद गाली खाये। साथ ही वह कहती है कि समाज ने लोगों को अंधा कर दिया है। पुरानी परम्पराओं के सामने मनुष्य की सच्ची भावनाओं में उभरती ही नहीं है। वह ऑख बंद करके पुराने रास्ते पर चल रहा है।

डॉ. वर्मा ने समाज के बंधन को आवश्यक माना है। वे पात्र के माध्यम से कहते हैं कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह राबिसन क्रूसो बनकर बहुत दिनों तक नही रह सकता। उसे समाज के बीच रहना जरुरी हो जाता है। जब वह सभ्यता की चोटी पर चढने की कोशिश कर रहा है तो वह अकेला कैसे रह सकता है? उसे अपनी बुराईयों से लडना है और अपनी कमजोरियों को दूर फेंकना है। आपमें शक्ति हो तो समाज से लड जाइए। एक नया 'सोशल आर्डर' सामने रखिए। लेकिन समाज से मूँह मोडकर एकांत में चले जाना तो अपनी हार स्वीकार करना। यह तो एक 'एस्केप'(Escape) है। मैं समाज को एक बिगडा हुआ जानवर समझता हूँ। अगर मैं इसे पुचकार कर अपने वश में नहीं कर सकूँगा तो इसे ऐसी गोली मार दूँगा कि वह तकलीफ से कराहने लगे। .. जो आदमी समाज को तमाचा मार सकता है, समाज उसके सामने कुत्ते की तरह दुम हिलाने लगता है। यह ऐसा जानवर है। .... जीवन का आनंद संसार से लडने-भिडने में ही है जिसमें कभी हॅसना पड़ता है, कभी रोना पडता है। सुख-दुःख तो उसे नहीं होते जो मुर्दा है। रजनी एक स्थान पर कहती है कि 'लहर की तरह बह जाना मनुष्य को शोभा नही देता। उसे होना चाहिए चट्टान की तरह दृढ़ और अटल। मैं चाहती हूँ कि मनुष्य स्वतंत्र हो। वह अपनी इच्छा में किसी का गुलाम न हो।' जबकि वर्माजी चाहते हैं कि मनुष्य स्वतंत्र हो लेकिन यदि अपने सिद्धान्तों का पक्का है तो वह समाज को तोड-फोड़ कर फिर से बनाये, नये सिद्धान्त रचे, नये विचार सोचे। ईश्वर देखे कि उसने मनुष्य को दुनिया में कीडे की तरह नही भेजा। भेजा है एक गढने वाले के रुप में। मनुष्य खुद ईश्वर बने, वह अपनी जिम्मेदारी समझे। इस तरह रजनी के पलायनवादी दृष्टिकोण को सामाजिक दृष्टिकोण में बदलकर स्त्री-स्वातंत्र्य के औचित्य पर प्रकाश डाला है। वर्माजी की मान्यता है कि 'स्त्री-स्वातंत्र्य' एक सीमा तक ही ग्राह्य है और यदि कोई नारी यह चाहे

कि वह हर परिस्थिति और वातावरण में स्वतंत्र अस्तित्ववादी होकर, समाज को चुनौति देकर अकेली शांत रह सकती है, यह मात्र भ्रामक है। समाज की समस्यायें समाज में रहकर ही हल की जा सकती है, समाज से बाहर रहकर नहीं।

आधुनिकाओं की स्वच्छन्दता तथा विलासमयी वृत्ति :

उदय शंकर भट्टजी की 'मायोपिया' एकांकी का प्रति पाद्य है आधुनिक नारी की विवाह-विषयक विभिन्न धारणाएँ। आज की नारी केवल प्रेम, बनावटी रोमांस, सौन्दर्य या अर्थ स्वातंत्र्य पर सफल जीवन व्यतीत करना चाहती है कुछ नारियाँ पुरुष वर्ग से हटकर किसी के भी नियंत्रण में रहकर अपना जीवन व्यतीत करना नहीं चाहतीं। वे नारी-सुलभ मधुर वृत्तियों से वंचित ही नहीं हो जातीं, अपितु पुरुष की तरह स्वच्छंदता का उपयोग कर अपने मधुमय जीवन को विषाक्त बना लेती है। मधु के शब्दों में लेखक ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है-"स्त्री-पुरुष का सम्बंध निश्चल भाव से एक-दूसरे को देने के लिए है। जो कुछ स्त्री के पास है, यदि वह पुरुष को दे डाले तो कोई कारण नहीं कि पुरुष से वह उतना या उससे अधिक न प्राप्त कर सके।"[63] केशव के शब्द आज की कुण्ठाओं या मिथ्या धारणाओं से ग्रसित आधुनिक नारी के लिए पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो सकते हैं- "जीवन केवल प्रेम-सौन्दर्य के बल पर ही नहीं चलता, वहाँ जीवन की गाडी को सुंदर ढंग से चलाने के लिए तत्परता, सहयोग, सदाशयता की भी आवश्यकता है। .. यह मेरी भूल थी जो मैंने केवल सौन्दर्य और ज्ञान के सहारे तुमसे जीवन की भिक्षा माँगी थी। ... विवाह विनिमय नही चाहता है। वह जीवन की नाव चलाने में एक-दूसरे की सहायता चाहता है।"[64] अन्त में अपनी आत्म-प्रवंचना की अस्वाभाविकता तथा अपनी मानसिक विकृति को वह स्वीकार कर लेती है, किन्तु सब व्यर्थ है- क्योकि उसका प्रेम निवेदन, आत्मसमर्पण केवल रह गया है उसका बौद्धिक चक्र-जाल और पुरुषद्रोह का हृदयानल। आज की शिक्षिता नारी के बढ़ते हुए इस मानसिक रोग का समाधान विवाह के रुप में प्रस्तुत किया गया है।

'बार्गेन' शीर्षक एकांकी में भट्टजी ने भोगवादी पाश्चात्य संस्कृति के दुष्प्रभाव को चित्रित करते हुए बुर्जुआ प्रेम के पीछे छिपे यथार्थ को उद्घाटित किया है। प्रेम की स्वतंत्रता के नाम पर मिथ्याचरण, धोखाधडी तथा स्वतंत्रता की भ्रान्त धारणा से उत्पन्न उच्छृंखलता के कारण युवती अपने लिये अनेक कठिनाइयों को उत्पन्न कर लेती है। शिवदानसिंह चौहान जी कहते हैं- "उच्चवर्ग से एक स्तर नीचे, बुद्धिजीवियों में व्यक्ति-स्वातत्र्य की धर्म-ध्वजा फहराकर भारत की जनसंख्या वृद्धि को रोकने के नाम पर अविवाहित होने के संकल्प बनते है साथ ही गर्भ-निरोध की विधियों का प्रयोग करते हुए एक साथ ही अनेक स्त्रियों या पुरुषों से

अनियंत्रित प्रेम-अभिनय तथा यौन-सम्बंध आदि भी चलते हैं। मूल भावना यह है कि उच्छृंखल प्रेम का आनन्द तो भरपूर मिले, किन्तु कोई दायित्व न उठाना पडे।"

'बहनें' शीर्षक एकांकी में 'अश्क'जी ने आज के शिक्षित नारी समाज मे जो मुक्त जीवन की लालसा बढ़ रही है, उसके अनौचित्य और हानिकारक प्रभाव को व्यंजित किया है। आधुनिक फैशन परस्ती के वशीभूत हो जिन पाश्चात्य वैवाहिक विधानों को आज की आधुनिकाओं ने महान् समझ लिया है, उसके खोखलेपन और उनकी नीव पर आघात करते हुए इसके अंत को प्रस्तुत किया है जो बहुत यथार्थ होते हुए भी आकस्मिक और नाटकीय है। 'अश्क' जी एकांकी के माध्यम से ऐसी आधुनिकाओं को यह हिदायत देना चाहते हैं कि विवाह जैसे पवित्र बंधन को खेल न समझे और इसकी सफलता के लिए इस संबंध का उनके हृदय में आदर अत्यावश्यक है। आधुनिकाओं की इस समस्या का हल तभी संभव होगा जब वे इसकी सफलता के एक जुट होकर पति को केवल ढाल न समझ अपना जीवन साथी समझकर अपने वैवाहिक-जीवन की सफलता के लिए कार्यरत होंगी। वे स्वयं ही इसके लिए प्रयास करे तो यह कार्य बिल्कुल आसान हो जायेगा। सदियों से चले आ रहे इस पवित्र बंधन का आदर करें। पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण के परिणाम हमारे देश के लिए घातक सिद्ध हो रहे है। युवक-युवतियों को विवेकबुद्धि से ऐसा अनुकरण करना चाहिए जो हमारे हितों के विरुद्ध न हों।

'स्वतंत्रता का युग' एकांकी में भट्टजी ने स्वच्छंदता प्रिय पाश्चात्य जगत में व्याप्त उन्मुक्त प्रेम, सौन्दर्य-प्रतियोगिता, फैमिली-प्लैनींग, रेसकोर्स में रुचि रखने वाली एक आधुनिक नारी का चित्र अंकित किया है। आधुनिक समाज ऐसी नारियों के घृणित, क्षोभ और ग्लानि से पूर्ण वृत्ति के परिणामस्वरुप पतन के गर्त में गिर रहा है। एकांकी का मुख्य प्रतिपाद्य है- जिस प्रकार पुरुष के प्रति नारी का उपेक्षा भाव अस्वाभाविक और अहितकर है उसी प्रकार उसकी स्वच्छंदता प्रियता भी नारी-जीवन को पूर्णतः नष्ट कर देती है।

श्री विष्णु प्रभाकरजी की 'लिपस्टीक की मुस्कान' एकांकी बहु प्रशंसित और व्यंग्यपूर्ण एकांकी है। इसमें एक अति आधुनिक नारी का चित्र प्रस्तुत किया गया है। एक 'अल्ट्रा-मोडर्न' विवाहिता नारी रीता जिसकी आयु लगभग चौबीस वर्ष है। छब्बीस वर्षीय युवक राकेश रीता का पति है। इनका पुत्र बेबी अभी केवल दो-तीन वर्ष का ही है। रीता ने बेबी का पालन-पोषण स्वयं न करके उसे आया से ही पलवाया है, क्योंकि वह आधुनिक नारी है। बेबी के स्पर्श भर कर देने से उसकी ड्रेस की क्रीज बिगड जाती है। वह इसके लिए आया को बुरा-भला कहती है। आया को बताती है कि बेबी को किस समय उसके पास लाया करे। रीता अपने पति राकेश को बात-बात पर फटकार देती है। विवाह की आवश्यकता बताते हुए वह कहती है- "....

मैं कहती हूँ कि आजकल बच्चों की बिलकुल जरुरत नहीं है। विवाह की भी जरुरत नहीं है। विवाह करो, अंधाधुँध संतान पैदा करो, जीवन की सांसे पूरी करो और गुलामी में मर जाओ, यह कोई जिन्दगी है?" रीता कुमारी-क्लब की सदस्या बन जाती है। बेबी को लावारिस बच्चों के नर्सिंग होम में भेज देती है। राकेश को केवल मात्र छींक आने पर छूत की बीमारियों के अस्पताल में भेज देना चाहती है। अस्पताल से एम्ब्युलैंस भेजने के लिए फोन कर देती है। श्रीमती चन्द्रा उसे बताती है कि उनके बच्चे को बेबी शो में प्रथम पुरस्कार मिला है, तुम शाम को आयोजित पार्टी में उनक घर आना। वह घबराकर कृत्रिम हँसी से कहती है- " (बनावटी हंसी) आह। आई एम वेरी-वेरी सोरी। नो, नो, ग्लैड... वैरी ग्लैड, चन्द्र मेरी बधाई, बहुत-बहुत बधाई।"

रीता को अब पछतावा होता है कि उसने बेबी को बेकार ही नर्सिंग होम भेजा। बेबी होता तो उसे एक हजार नकद और एक हजार की वस्तुएँ मिलती। अब रीता को जुकाम हो जाता है और राकेश उसे अस्पताल भेजना चाहता है। इसी समय आया बेबी को लेकर आ जाती है। वह रीता से कहता है तुम्हारी लिपस्टिक में शोले भडक रहे हैं। मुस्कराती हो तो ऐसा लगता है जैसे अंगारे उगल रही हों। तुम अस्पताल नहीं जाती तो हम होटल जा रहे हैं। रीता सुबकियाँ लेती रह जाती है। अतः प्रभाकर जी सिद्ध करना चाहते हैं कि इतनी आधुनिकता भी अच्छी नहीं क्योंकि जब स्वयं पर पडता है तभी वास्तविकता का भान होता है।

'मानवमन' शीर्षक एकांकी नाटक द्वारा सेठ गोविन्ददासजी सत्य को उद्घाटित करते हुए बताते हैं कि बीमार के साथ बहुत दिनों तक रहने से साथ वाले को घुटन होने लगती है। वह चाहते हुए भी नहीं रह पाएगा। पद्मा ही कहती है कि सारी जिन्दगी भी पति की सेवा करनी पड़े तो उसे निश्चल भाव से करनी चाहिए। यही नारी कर्तव्य है। वही पद्मा पति के आग्रह पर उत्सव में चली जाती है। वह चाहती तो मना कर देती किन्तु जीवन की सच्चाई, वास्तविकता यही है। आदर्श की बातें करना अलग है। आदर्श प्रस्तुत अलग चीज है। सेठजी प्रस्तुत एकांकी के भारती पात्र द्वारा यह उद्घाटित करते हैं कि आज आधुनिक नारियों में ममता आदि के गुण जो नारी के सर्वोत्तम गुण हैं वह लुप्तप्राय होते जा रहे हैं। उसमें सेवाभाव भी नही रह गया है। गृहधर्म के प्रति नारी के कुछ उत्तरदायित्व होते हैं। उससे निरपेक्ष होकर कैसे रहा जा सकता है? इससे वे स्वयं भी आंतरिक सुख की अनुभूति नही कर पाएगी। आधुनिक शिक्षा, दीक्षा का गलत प्रयोग करने से स्त्रियाँ अपने स्वाभाविक और नैसर्गिक गुणों को भी खोती जा रही हैं। मिथ्या आडम्बरों के घिराव में केवल जकडकर न रह जाएँ। इसकी आशंका आज के वर्तमान नारी-युग से आंका जा सकता है। वक्त रहते सचेतन हो जाना ही बुद्धिमानी है।

'स्पर्द्धा' शीर्षक एकांकी में सेठजी ने क्लबीय जीवन की विडम्बना की प्रस्तुति करके आधुनिक नारी के क्षेत्र अतिक्रमण की समस्या को प्रस्तुत किया है। शिक्षित नारी आज अपने क्षेत्र के बाहर निकलकर ही मानती है कि उसने जीवन में कुछ पाया है लेकिन उनका यह सोचना-मानना नितांत गलत है। प्रकृत-प्रदत्त क्षेत्र से निकलकर शिक्षा, सभ्यता, सुरुचि, आधुनिकता के नाम पर वह अपने क्षेत्र से बाहर निकलकर उस क्षेत्र में प्रवेश करने की कोशिश करती हैं। चुँकि वह क्षेत्र उनका नही होता। महिलाओं के इस तरह के रुख से हमारे घरों में जो थोडा-बहुत सुख शेष है वह भी धूमिल हो जायेगा। केवल घर के बाहर (चौखट के पार) ही सुख को तलाशना मृगतृष्णा जैसा प्रतीत होता है। घर की ड्योढी के भीतर भी सुख है जिसे घर की सुख-शांति कहते है। जिसे कायम रखना भी एक बडी उपलब्धि है किन्तु इसका आशय यह भी नहीं लगाना चाहिए कि नारी केवल चाहरदीवारी के भीतर ही कैद होकर रह जाये। यह कदापि उचित नहीं है।

युवक-युवतियो की निरंतर बढती स्वच्छंदप्रियता से समाज में अनैतिकता को बढ़ावा मिला है। पाश्चात्य सभ्यता के दुष्प्रभाव और अति आधुनिकता की आड़ में मुक्त यौन-सम्बंध, युवक-युवतियों का स्वच्छंद विहार आदि ने अनेक समस्याओं को उद्‌भुत किया है। उपरोक्त एकांकियों के अतिरिक्त अनेक एकांकियाँ ऐसी समस्याओं को लेकर लिखी गई हैं। श्री जगदीशचन्द्र माथुरजी की 'घोंसले' एकांकी में जगमोहन और विजय नामक दो युवकों की विलासी वृत्ति पर व्यंग्य प्रस्तुत किया है। एकांकी का मुख्य प्रतिपाद्य है-परिवार नियोजन की आवश्यकता पर बल देना। बहुत बच्चों की समस्या और इससे निरन्तर बढती हुई आबादी की समस्या को प्रस्तुत किया गया है। हरिकृष्ण प्रेमी जी की एकांकी 'गृहमंदिर' में कुछ ऐसी ही समस्या को लेकर प्रस्तुत है। पाश्चात्य सभ्यता जहाँ स्त्री और पुरुष के विवाह के पहले के सम्बंध को बुरा नही समझता वहीं पौर्वात्य सभ्यता में ऐसे संबंध को कतई पसंद नहीं किया जाता है। उसे नजायज समझा जाता है। प्रेमीजी ने यहाँ नारी-स्वतंत्रता की समस्या की ओर संकेत करते हुए नारी-स्वच्छंदता की एक सीमा निर्धारित की है। अन्यथा परिणाम घातक हो सकते हैं। आज के स्त्री-पुरुष के स्वतंत्र मिलन का दुष्परिणाम दिखाते हुए ऐसा अंदेशा अभिव्यक्त किया है। पाश्चात्य देशों की सभ्यता का अंधानुकरण से स्त्री-पुरुष का पारस्परिक संबंध आज के रुढिबद्ध समाज में कितनी विषम समस्याएँ उत्पन्न कर सकता है, इसी का चित्रण यहाँ प्रेमी जी ने किया है।

'सर्वस्व समर्पण' शीर्षक एकांकी में गणेश प्रसाद द्विवेदीजी ने विनोद के द्वारा रुढिगत परंपरा का

विरोध चित्रित किया है। एकांकी का संक्षिप्त कथानक पूर्व अध्याय में रचित है। प्रस्तुत एकांकी का नायक विनोद पुरुष है अतः उसे समाज से लोहा लेने में भी कोई भय नहीं लगता है। लेकिन ऐसा हौसला निर्मला के पास नही है। विनोद तो विवाह विधान को भी भ्रम कह देता है। इससे एक बात अवश्य सिद्ध होती है कि आज की पीढी सर झुकाकर यह विधान नहीं मान सकती है कि उसकी पूरी सहमति होनी चाहिए। अन्यथा वह समाज से बगावत करने में भी पीछे नहीं हटेगा। प्रस्तुत एकांकी में यद्यपि विनोद की मामा की बेटी है और इस रिश्ते से वह उसकी बहन हुई। समाज विवाह विधान की इजाजत नही देता है किन्तु विनोद को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी। वह प्रचलित रुढि के विरुद्ध उठ खडा होता है। वह इसके साथ ही विवाह-विधान को भ्रम की संज्ञा देता है। इससे उसकी जागृत नवीन चेतना का बोध तो होता है किन्तु द्विवेदी जी यहाँ यह प्रश्न भी उठाना चाहते हैं कि क्या युवा पीढी के द्वारा उठाये गये ऐसे कदम समाज में अनैतिकता को बढ़ावा नहीं देगा? क्या एक हद तक समाज विधान का हस्तक्षेप आवश्यक नहीं है? अन्यथा मेरी दृष्टि से समाज विरोधी ऐसे कदम अन्य कई ऐसी समस्याओं को भी बढायेंगे। कुरीतियों अर्थात् सड़ी-गली मान्यताओं का विरोध अति आवश्यक है, किन्तु इनका हवाला देकर अपनी सांस्कृतिक परंपराओं को ध्वस्त नहीं किया जा सकता है।

रामकुमार वर्माजी की 'रुप की बीमारी' शीर्षक एकांकी एक ऐसी एकांकी है जिसमें शिक्षित युवको के विवाह की समस्या और उसके समाधान के विषय में उन्होंने जमकर विचार किया है। प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से एकांकीकार ने यह बताया है कि उचित यही है कि अपनी जीवन-संगिनी के चुनने का अधिकार वर को दिया जाय। साथ ही कन्या को भी यह अवसर जरुर मिलना चाहिए कि वह वर को भी जान-समझ ले। वर्माजी इस बात के लिए भी आग्रही हैं कि वर-कन्या को अभिभावक का आशीर्वाद प्राप्त हो और प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम-संबंध विवाह की संस्था से नियंत्रित हो। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव के कारण युवकों के मन में स्वयं विवाह संस्था की उपयोगिता के विषय में अनास्था का भाव आ गया है। डॉ. वर्मा इसे शुभ नहीं मानते हैं। वे प्रेम और विवाह के बीच समझौता चाहते हैं। आज के युवा समाज के आगे विवाह के प्रश्न को लेकर जो समस्याएँ खडी हैं, डॉ. वर्मा उनका समाधान इस समझौते में ही देखते हैं। वे युवा समाज की भावनाओं, आकांक्षाओं के प्रति पूर्ण संवेदना रखते हैं लेकिन वे मुक्त भोग को समाज और देश के लिए हानिकारक मानते हैं। भारतवर्ष की अपनी एक निश्चित सांस्कृतिक परंपरा है । उससे विच्छिन्न होकर हम सुखी नही होगे - ऐसा वे मानते हैं। इसीलिए विवाह संस्था में चाहे जो भी सुधार किया जाये उसे वे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेगे। लेकिन स्वयं विवाह की संस्था को अनुपयोगी कहना गवारा नहीं कर सकेंगे। हमारे सामने प्रेम का भारतीय आदर्श है , जो मानता है कि वह प्रेम जिसमें प्रेमी-प्रेमिका का संसार से निरपेक्ष होकर आत्मरत हो जाते हैं, वह प्रेम नहीं वासना है , स्वार्थ है। उसके प्रतिकूल जो प्रेम सारे संसार को केन्द्रस्थल में

रखकर शनैः शनैः आगे की ओर बढ़ता है, उसका अनिष्ट न तो कोई मनुष्य कर सकता है, न उसके लिए किसी दुर्वासा का शाप होता और न देवताओं का कोप। वह प्रेम, जिसमें प्रेम और कर्तव्य के बीच सामंजस्य हो, वास्तविक प्रेम है। इसी से वर्माजी की भावना में पश्चिम की विलासिनी नहीं आ पाती और यही कारण है कि वर-वधू के लिए अभिभावक के आशीर्वाद की शर्त रखना चाहते हैं।

नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व :

आज के बौद्धिक युग में नारी के व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास होना चाहिए। नारी सजग होकर इस दिशा में सोचने लगी है। वह सेविका अथवा दासी के रुप में नहीं जीना चाहती। इसलिए वह पुरुष से प्रतिस्पर्धा करने लगी है तथा अपने अस्तित्व को समझने लगी है। वह पुरुष के साथ सेवक-सेव्य की तरह नहीं बल्कि समान अस्तित्व के समन्जन की माँग करने लगी है। नारी का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। नारी के इस स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हिन्दी एकांकीकारों ने की है जिसमें पुरुष के समान ही नारी को स्वतंत्र और सम्मानित रुप से प्रतिष्ठित कर उसे समाज में योग्य स्थान दिया गया है। 'रीढ की हड्डी' (जगदीशचंद्र माथुर), 'उडान' (अश्क), 'यह स्वतंत्रता का युग' (उदयशंकर भट्ट) तथा 'दादी माँ जागी' (चिरंजीत) आदि एकांकियों मे नारी जीवन की सक्रियता और सामर्थ्य पर प्रकाश डाला गया है। 'दादी माँ जागी' एकांकी में चिरंजीत ने एक ऐसी वृद्धा का चित्रण किया है जो किसी विशिष्ट रोग से पीडित होकर 25 वर्षो से बेसुध रही हैं। जब यह चेतना प्राप्त करती हैं तो समाज की स्थिति बदल चुकी होती है। दादी माँ देखती हैं -स्त्री परतंत्रता के बंधन तोड चुकी है, नारी आर्थिक दृष्टि से भी स्वाधीन हो चुकी है। इस प्रकार एकांकी में नारी-जीवन की प्राचीन और नवीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। चौधरी रुपचन्द दिल्ली के एक धनी-मानी ठेकेदार हैं , आयु 45-46 वर्ष लगभग है। 25 वर्ष पूर्व उनकी माँ, पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर बेहोश होकर गिर पडी थीं, मस्तिष्क पर चोट लगने के कारण उन्हें ऐसी मूर्च्छा आती है कि वे सोयी ही रहती हैं। 25 वर्ष बाद एक दिन भूचाल आने से कमरे में खडी लकडी की अलमारी गिर पडती है, दादी माँ के सर पर गहरी चोट लगती है और इस घटना से खोई हुई चेतना पुनः लौट आती है। चेतना आने पर वह अपने घर, अपने पुत्र को पहचानती है। समस्त स्थिति का पता लगने पर प्रसन्न होती है कि उनका पुत्र अब केवल एक मुंशी नही, एक धनी ठेकेदार है और कई मकानों का मालिक है। परन्तु अपनी चारों पोतियों को देखकर उन्हें बडा आश्चर्य होता है। सबसे बडी पोती कमला का विवाह हो चुका है। वह अपने पति को अपने अनुशासन में रखती है। उसका नाम लेकर बुलाती है। विमला अध्ययनशीला है और कॉलेज में प्रोफेसर है। सरला के बाल लडकों जैसे कटे हैं और वह डॉक्टर है। चौथी अमला नृत्य-संगीत में कुशल है और रेड़ियो कार्यक्रमों में भाग लेती है। अतः चिरंजीत की 'दादी माँ' देखती हैं कि आज की नारी और उनके समय की नारियों में जमीन-आसमान का अंतर है।

जगदीशचन्द्र माथुर जी की 'रीढ की हड्डी' एकांकी में मध्यवर्ग की एक बडी समस्या की प्रस्तुति हुई है। आज के समाज की यथार्थ स्थिति का अंकन इसमें किया गया है। इसकी संक्षिप्त कथावस्तु पूर्व के अध्याय में रचित है। रामस्वरुप ने अपनी बेटी उमा को बी.ए. तक की शिक्षा दी है और विवाह के समय यही उसकी मुसीबत का कारण है। हमारा पुरुष वर्ग लडकी से तो जाने कितनी अपेक्षाएँ रखता है, लेकिन लड़के की योग्यता के विषय में कोई शर्त नहीं रखना चाहता। प्रस्तुत एकांकी में रामगोपाल प्रसाद को हम देखते हैं। रामस्वरुप की कन्या उमा को अपनी पुत्रवधु बनाने के पहले वह इतना मीनमेख कर रहा है, नाप-तौल कर रहा है और उधर उसका बेटा शंकर ऐसा है जिसकी रीढ़ की हड्डी ही नहीं है , लडकियों के होस्टेल के इर्द-गिर्द घुमकर और अपमानित होकर मानों वह अपनी रीढ़ की हड्डी खो चुका है। इसी नीच और कायर के विवाह के लिए इतनी नाप-तौल हो रही है। अपना माल तो ठीक नहीं और बाप चला है इतने नखरे लेकर बहु की खरीददारी करने। उमा परिस्थिति की इसी विद्रुपता को मुखर करती है। हमारे विवाह संस्था की एक गंभीर दोष की ओर भी माथुरजी की दृष्टि जाती है। प्रस्तुत एकांकी में वर-पक्ष और कन्या-पक्ष सबंध स्थिर करने तो चलते हैं लेकिन बिजनेस की वृत्ति से। गोपाल रामस्वरुप के घर आकर कहता है- "अच्छा, तो साहब फिर बिजनेस की बातचीत हो जाय।"[65] और चूँकि यह व्यवहार 'बिजनैस' है, इससे दोनों ही पक्ष एक-दूसरे को ठगने की चेष्टा करते हैं। गोपाल प्रसाद इस बात को छिपाता है कि उसका बेटा दृढ़ और पुरुषार्थ सम्पन्न नहीं है और रामस्वरुप गोपाल प्रसाद से यह छिपाता है कि उसकी लडकी बी.ए. पास है और पढने की मेहनत से उसकी ऑखें कमजोर हो गई हैं।

प्रस्तुत एकांकी एक सामाजिक एकांकी है , जिसमें लेखक ने 'नारी-स्वातंत्र्य' मूल्य का प्रतिपादन करके यह प्रदर्शित किया है कि नारी जब तक अधिकारों के लिए सजग नहीं हो जाती है, तब तक अत्याचार की चक्की में उसे पिसना ही पड़ेगा। यह एकाकी भारतीय समाज में परिव्याप्त उस कुप्रथा की ओर संकेत करती है जिसके कारण विवाह से पूर्व कन्या को देखने आते हैं और कन्या का साक्षात्कार करते हुए उसे ठोक-बजाकर खूब अच्छी तरह देखते हैं, परन्तु लडकी को यह अधिकार या अवसर नहीं प्रदान किया जाता है कि वह भी अपना मत प्रकट कर सके। हमारी यह कैसी दयनीयता है कि खून की रिश्तेदारी करते समय भी हम स्वच्छ-हृदय लेकर नहीं बैठते। प्रस्तुत एकांकी में उमा पुरुष के साथ नारी के समानाधिकार की बात नहीं उठाती। लेकिन इतना तो चाहती है कि पुरुष-वर्ग नारी को बेजान न समझे- हीन, जड न समझे। जमाना टीम-टाम का है और आजकल की लडकियों के सहारे ही पावडर का कारोबार चलता है। लेकिन उमा है जिसे टीम-टाम, बनाव-श्रृंगार से न जाने किस जन्म की नफरत है। स्पष्ट है उमा पढ़ी-लिखी होकर भी वैसी

आधुनिका नहीं है जिसके नखरे उठाने में आदमी की तबाही हो जाय। फिर भी वह अभिशप्त है- केवल इसलिए कि उसने बी.ए. तक पढी है। आधुनिक शिक्षा के द्वारा उमा अपनी अस्मिता को समझ पाई है कि वह केवल एक बेजान वस्तु नही है। पुरुष वर्ग यह कभी स्वीकार नहीं कर पा रहा है कि स्त्री शिक्षा के द्वारा अपने अधिकार और कर्तव्य के प्रति सजग हो जाये और उसकी प्राप्ति के लिए तर्क करे। यह पुरुष वर्ग को यहॉ कदापि स्वीकार्य नहीं है। वैचारिक क्रान्ति और शिक्षा आन्दोलन के परिणामस्वरुप पुरुषों के साथ-साथ नारियों ने भी शिक्षा ग्रहण करना शुरु किया। प्रारंभ में इस पश्चिमी शिक्षा का परिणाम बहुत स्वस्थ नहीं दिखा। पढे-लिखे वर्ग की स्थिति ऐसी हो गई कि वह केवल शरीर से भारतीय रह गया। उसका सबकुछ विदेशी हो गया। परन्तु धीरे-धीरे स्थिति ऐसी आने लगी जब लोगों को पश्चिमी शिक्षा अखरने लगी लेकिन जब औरतें शिक्षिता होकर अंग्रेजी अखबार पढने लगी और पोलीटिक्स वगैरह पर बहस करने लगीं तब ऐसा लगा कि गृहस्थी की नाव डूब गई। पूरातनता की परंपरा और उसके संस्कार से समाज को मुक्ति नही मिल पाई है। इससे नारी शिक्षा का विरोध शुरु हुआ ऐसा कहा जाने लगा कि पश्चिमी शिक्षा भारत की ललनाओं के लिए हितकर नहीं है। पुरुष और स्त्री के क्षेत्र अलग-अलग हैं। कुछ बातें दुनिया में ऐसी हैं, जो सिर्फ मर्दो के लिए है - ऐसा कहकर आधुनिक शिक्षा से नारी-वर्ग को वंचित रखा गया है। एकांकी में एक स्थान पर गोपाल प्रसाद कहते हैं - 'जनाब, मोर के पंख होते हैं, मोरनी के नहीं, शेर के बाल होते हैं, शेरनी के नहीं।'

'टायफॉड़' शीर्षक एकांकी में पंडित रामदीन पांडेय ने हमारे समाज में अल्प वयस्क लडके-लडकियो का जो विवाह होता था उसका विरोध किया है। एकांकी में निर्मला की सखी कहती है- 'एक तो कली के खिलने के पूर्व उसे स्नेह-सूत्र में बाँध देते हैं और दूसरे उस कली के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण का भी सृजन नहीं करते।"[66] जागरण की चेतना का प्रभाव कोमल-मति इन कलियों को भी प्रभावित कर रहा है और वे भी आज इस बात की फिक्र नही करती कि द्विरागमन के पूर्व पत्नी के पति से मिलने जाने पर पुरातनपंथी बुरा मानेंगे। निर्मला अकेली ही घर से पति से मिलने के लिए चल पडती है। वह डटकर कहती है, मर्दो को कोई दुम तो होती नहीं, जो पुरुष कर सकता है, उसे स्त्री भी करने में समर्थ है। स्पष्ट है, निर्मला नये विचारो से प्रभावित है और समाज के दोषों को अंगीकार कर चलनेवाली अवश अबला नहीं है।

पारिवारिक विघटन :

पारिवारिक विघटन सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन है और जिससे समाज अत्यधिक प्रभावित हुआ है। भारतीय समाज एक बृहद पारिवारिक सगठन का हिमायती रहा है। यहॉ पारिवारिक सम्बन्ध एक 'फैडरल स्ट्रक्चर' जैसा नहीं है, अपितु यहाँ सामूहिक परिवार की भावना है। यहॉ माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-

बहन, दादा-दादी, चाचा-चाची सबकी एक साथ रहने की व्यवस्था रही है और एक दूसरे के प्रति सबके कर्तव्य और अधिकार की आचारसंहिता रही है। आज सामाजिक संबंधों ने जिस आणविक इकाई की स्थापना की है, उसका परिणाम है कि सीमित परिवार की कल्पना की जाती है। इसीलिये परिवार नितांत ही छोटा और सीमित हो गया है। आज परिवार की कल्पना केवल पति-पत्नी और बच्चों तक सीमित है। इसके मूल में बढ़ती हुई वैयक्तिकता है। आज मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की माँग के दबाववश नई-नई समस्याओं से जूझ रहा है। व्यक्ति की सोच इतनी संकुचित हो गई है कि वह केवल अपने बारे में ही सोचता है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए बडे परिवार बाधक होते हैं। दूसरी ओर जीवन, आधुनिकरण के कारण इतना फैशन परस्त हो गया है कि भौतिक संसाधनों की गहरी आवश्यकता उसके जीवन में व्याप्त हो गई है। इन सबकी पूर्ति सामूहिक परिवार में संभव नहीं है। इसीलिए परिवार टूटने लगा है और वह एक सीमित इकाई के रुप में आने लगा है। इन भौतिक आवश्यकताओं के दबाव के साथ ही, मनुष्य पारिवारिक आचारसंहिताओं के दबाव से भी ऊबने लगा है। पति-पत्नी के भावात्मक संबंध अपनी पूरी स्वतंत्रता के साथ एक-दूसरे के लिए उभर सकें और मानसिक रुप से परस्पर इसका अहसास हो सके, संयुक्त परिवार इसमें बाधक है। संयुक्त परिवार में किसी की कोई 'प्राईवेसी' नहीं होती। सीमित परिवार में नारी पुरुष को अपनी स्वतंत्रता के अनुकूल प्राइवेसी प्राप्त होती है। ये सब कारक हैं जिनके कारण पारिवारिक विघटन हुआ है।

वैज्ञानिक प्रगति के साथ भारतीय समाज की परंपराओं में पर्याप्त परिवर्तन आया है। समाज की प्रारंभिक इकाई परिवार के संगठनात्मक स्वरुप और वैचारिक चिन्तन में भी परिवर्तन प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होता है। भारतीय परिवार, जातीय तथा आर्थिक दृष्टि से अनेक वर्गो में बँटे हैं, और एकांकी नाटकों में पारिवारिक परिवेश के व्यापक चित्र अंकित किये गए हैं। एकल और संयुक्त परिवारों तथा जातीय और आर्थिक स्तर पर विभक्त परिवारों के अनेक रुप हिन्दी एकांकियों में देखे जा सकते हैं। वैज्ञानिक प्रगति और भौतिक दबाव के कारण संयुक्त परिवार धीरे-धीरे विघटित हो रहे हैं। फिर भी, भारत के गाँव में अभी भी संयुक्त परिवार पूर्ण रुप से संरक्षित हैं। महानगरों में संयुक्त परिवार अपेक्षाकृत कम संख्या में दिखाई देते हैं। फिर भी उनका अस्तित्व किसी न किसी रुप में संरक्षित है। संयुक्त परिवारों में माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन आदि पारिवारिक सदस्य, सम्मिलित रहते हैं और इनके बीच वैचारिक संबंधों और विचारों का तालमेल आवश्यक होता है। यदि आपसी संबंध संतुलित हैं तभी संयुक्त परिवार स्वस्थ रुप से चल पाते हैं। संयुक्त परिवार में छोटे-बडे की मर्यादा को संरक्षित रखना विशेष आवश्यक होता है। पारंपरिक मूल्यों के विघटित हो जाने से सयुक्त परिवारों का आपसी सौहार्द एवं सगठन बहुत कुछ खंडित हुआ है। शहरी परिवारों में यह दबाव अधिक दिखाई देता है। डॉ. दशरथ ओझा के शब्दों में, "वैवाहिक जीवन की पवित्रता में अनास्था

के कारण पति-पत्नी में दिन रात की उलझन, परिवार में पुरानी पीढी में विचारों की टकराहट निरंतर बढ़ती जाती है। व्यक्ति के बाह्य संघर्ष और आंतरिक संघर्ष की सतत तीव्रता से समयानुसार अपने को बदलने की अपेक्षा परिवार, समाज तथा देश को अपनी इच्छानुसार बदलने पर बल दिया जाता है। जीवनमूल्यों में घोर परिवर्तन लाने का उतावलापन आधुनिक संवेदना का मूल मंत्र बन गया है।"

गाँवों में अधिकांश परिवार, संयुक्त परिवार के रुप में अवस्थित हैं। परन्तु आर्थिक विषमताओं के कारण गॉव के परिवार से मनुष्य ने नगर की ओर पदार्पण किया और एक ही परिवार के व्यक्ति जीवन-यापन करने के लिए भिन्न कार्यों में लग गए जिससे कि शहरों में एकल-परिवार की संख्या बढ गयी तथा सामाजिक आदर्श, मूल्य, विश्वास एवं जीवन स्तर में परिवर्तन के कारण संयुक्त परिवार की व्यवस्था धूमिल हो गयी। समय के साथ-साथ नये जीवन-मूल्यों के लिए युवा मानसिकता भी बदली है। आधुनिक विचारों से बंधे हुए युवाओं को संयुक्त परिवार में रहना कठिन लगने लगा जिससे परिवार में संघर्ष शुरु हुआ और जो ऐसे माहौल में अपने आपको नहीं ढाल सके वे अलग हो गए , जिससे महानगरों में एकल परिवार की संख्या अधिक है। एकल परिवार में रहने वाले व्यक्ति अपने को ज्यादा स्वतंत्र समझने लगे। जीवन की इच्छाओं की पुर्ति के लिए उन्हें किसी से परामर्श लेने की आवश्यकता ही नहीं रही और न ही बडे बुजुर्गो का डर। संयुक्त परिवार का आपसी स्नेह, सुख-दुःख को आपस में बाँटने की क्षमता अभी कुछ स्वच्छंद एकल परिवार में आने के कारण समाप्त हो गया। एकांकियों में परिवार के उक्त सभी रुपों का प्रभावपूर्ण एवं यथार्थ चित्रांकन हुआ है। पारिवारिक संत्रास, कुंठा और घुटन का चित्रण विशेष रुप से किया गया है।

'सूखी डाली' शीर्षक एकांकी के माध्यम से अश्कजी ने संयुक्त परिवार की समस्या को विचारणीय विषय बनाया है। आपने यह अनुभव किया है कि अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव स्वरुप व्यक्तिवाद प्रतिष्ठित हो रहा है। परिणामतः नये जमाने में परिवार की परिभाषा ही बदल गई है। संयुक्त परिवार के बंधन खंडित हो रहैं। एकल परिवार प्रतिष्ठापित हो रहे हैं। संयुक्त परिवार को लोग अनावश्यक और बोझ मानने लगे हैं। संयुक्त परिवार को चलाने के लिए कितनी सहिष्णुता, कितनी उदाहरता और दूसरों के मनोभावों को समझने की कितनी शक्ति और कितने संतुलित मस्तिष्क की अपेक्षा होती है, इसका ज्ञान दादा मूलराज के चरित्र से प्राप्त हो सकता है। कहना नही होगा, दादा मूलराज कितनी बडी जवाबदेही उठाये हुए हैं। संयुक्त परिवार क्षण-क्षण विघटित हो रहे हैं। दादा मूलराज जैसे पुरानी पीढी के लोग भी जानते हैं कि संयुक्त परिवार की यह संस्था टुटने ही वाली है। लेकिन उनकी लालसा है कि उनकी अपनी जिन्दगी तक यह किसी तरह निभ जाये।

'बालू से तेल' एकांकी में मिश्र जी ने कौटुंबिक कलह का चित्र अंकित किया है। इसके साथ ही साथ असद् वृत्तियों पर सद्वृत्तियों की विजय दिखाकर आपने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। कौटुम्बिक कलह आज के भारतीय समाज की मूल समस्या है। भोलानाथ का चरित्र परिवार के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जिसके हृदय में अपने बडे के लिए प्रारंभ से ही द्वेषभावना रही है। यहाँ तक की वह जगदीश के एक मात्र पुत्र की मृत्यु पर अपने मित्रों को दावत देकर पुरानी खार निकालता है। दूसरी ओर जगदीश का चरित्र साधु प्रकृति का है। वह अपने पुत्र की मृत्यु का कारण अपने पूर्व जन्म के कर्मो का फल समझकर संतोष करता है। उसकी पत्नी विमला का चरित्र साधारण अंध विश्वासी भारतीय नारी का चरित्र है और इसी कारण उसे संदेह होता है कि उसके पुत्र की मृत्यु के लिए भोलानाथ ने कोई पुजा-पाठ न कराया हो। अपने पति जगदीश की भाग्यवादी विचारधारा पर वह क्रोधित होकर कहती है- 'तुम्हारा वह भाई जो बाप की सारी कमाई हड्प कर बैठ गया, घर-बार, बाग-बगीचे, गहने-कपडे की बात कौन कहे।तिजौरी और बैंक के रोकड खाते की रकम भी जिसने तुम्हें तिकड़म से न लेने दिया वह साधु है। उस पर वज्र क्यों नहीं पडता?" प्रायः ऐसा देखा जाता है कि आपस के द्वेष का मूल कारण स्त्रियों को बतलाकर सारा दोष उन्हीं के ऊपर डाल दिया जाता है। इसका खण्डन करते हुए विमला कहती है, 'भाईयों की आपस में नहीं बनती और दोष दिया जाता है, स्त्रियों को।" आज एक भाई दूसरे भाई के खून के प्यासे बन रहे हैं। कुटुम्ब बिखरते जा रहे हैं। प्रेम नफरत में परिवर्तन होते जा रहे हैं। अतः भाईयों के बीच अलगाव की बढती प्रवृत्ति को मिश्र जी ने प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से चित्रित करके हमारा ध्यान इस समस्या की ओर इंगित किया है।

'गिरती दीवारें' भट्ट जी की एक प्रतीक रचना है। इसमें पुरानी मर्यादा की टेक निभाने वाले एक ऐसे कुलीन परिवार की कथा आई है, जिसके अपने ही आचार-नियम हैं। राय साहब उस परिवार का कुलपति है। वह जिस कमरे में बैठक बनाये हुए उसमें उसके पूर्वजों के स्मृतिचिन्ह हैं। उस कमरे में प्रवेश करने वाले के लिये यह पाबंदी है कि बड़े अदब से तीन बार सलाम करे, धीरे बोले। उस कमरे में कोई स्त्री प्रवेश नहीं कर सकती। कुलपति और उसके परिवार के सदस्यों के लिए कड़ा बंधन है कि वे पैदल बाहर नहीं निकल सकते। ये नियम ऐसे हैं, जिनका पालन कुल को करना ही होगा। रायसाहब का छोटा बेटा प्रद्युम्न कुमार सरकारी नौकरी में आता है और उसके बाद नई रोशनी की किरणें उस कुल में भी प्रवेश करती हैं। प्रद्युम्न की बेटी ईसाई मिस साहबा से पढती है, अपने पुराने ढंग के कपडों को छोडकर अंग्रेजों के बच्चों जैसे कपडे पहनती है। स्वयं प्रद्युम्न पैदल सफर करना शुरु करता है। एक दिन तो बुजुर्गो के उस कमरे में मिस साहबा भी चली जाती है। रायसाहब को लगता है कि उसके वंश की मर्यादा उसकी आँखों के सामने ही टूट रही है। वह इधर

बुरे-बुरे सपने भी देखने लगा है। राम जाने क्या होता है और अंत में एक और भी दिन आता है जब वंश की मर्यादा की गिरती दीवारों के नीचे उसका भौतिक शरीर भी पिस जाता है। एकांकीकार भट्ट इस प्रतीक के द्वारा यह बताना चाहते है कि समय करवट ले रहा है। अर्थात् परिवर्तन तेजी से हो रहे हैं। अब अंधविश्वासों की दीवारें भहरा कर गिरने ही वाली हैं। जो समय रहते, समय की नब्ज नहीं पहचान सकेगा, वह पिसकर मरेगा। कहना नहीं होगा कि जीवन मूल्यों के परिवर्तन का नक्शा नाटककार के सामने बडा स्पष्ट है और उसी के अनुरुप उस विषय में उनकी आस्था अडिग है। 'तीमारदारी' एकांकी में भी भट्टजी ने मध्यमश्रेणी के परिवार को चित्रित करते हुए सम्बन्धों की स्वार्थपरता, हृदयहीनता आदि का सजीव एवं यथार्थ चित्रण किया है।

'हंः' में मोहन राकेशजी ने कुछ सम्बंधों पर विचार किया है। पापा काफी दिनों से अस्वस्थ हैं और ममा उनकी देखभाल करती है। पर पापा सतुष्ट नहीं हैं उन्हें लगता है कि उनकी फिक्र कोई नही करता। वे खीझते-चिल्लाते हैं। बेटा जहाँगीर बार-बार पत्र लिखता है कि पापा को 'वेलफेयर होम' भेज दिया जाय। पश्चिम में यह स्थिति करुण हो गई है कि वृद्ध व्यक्ति क्या करे? कहाँ जायें? औद्योगिक समाज में संबंध कैसे लडखडा जाते हैं इसका विवेचन मोहन-राकेश ने किया है। छोटे-छोटे वाक्य हैं, पर वे एक वृद्ध की मनःस्थिति पर प्रकाश डालते हैं। राकेश जीने सूक्ष्मता के साथ सम्बंधों का विश्लेषण किया है। स्त्री-पात्र के रुप में ममा है जो अपने वृद्ध अस्वस्थ पति की देखभाल करती है। ममा एक समर्पित पत्नी है। साथ ही उन्हें पूरे घर की भी चिन्ता है। पर उन्हें अहसास है कि अब उनका अधिकार समाप्त हो रहा है। जैसे - "यहाँ अब और कोई मेरी बात नही सुनता।" ममा को चिन्ता है, बस अपने पति की और वह उसी दर्द में डूबी रहती है। वह देखती है कि घर में वह अनुशासन नहीं है जो पहले था। घर पर स्वयं को विवश और निरुपाय पाती है। नौकर पर भी खीझती हैं। खुद को चाय बनाने की बात कहती है। पति की चिन्ता करते हुए ममा कहती हैं - "इसीलिये मैं इस आदमी को एक मिनट के लिए भी अकेला छोडकर नहीं जाती। अगर कही मुझे घण्टा-दो घण्टे के लिए जाना पड जाए घर से, तो पता नही यह क्या कहर ढा दें उस बीच।" और ऐसा ही होता है कि ममा थोड़ी देर के लिए जाती हैं, तो पापा को कष्ट हो जाता है।

मोहन राकेश जी ने 'हंः' एकाकी में बदलते पारिवारिक सम्बंधों पर टिप्पणी किया है। आज हम लोगों के बीच जो सम्बंध हैं उनमें इतने बदलाव आ गये हैं कि क्या कहा जाए ? कोई भी बूढ़ों को अपने पास नहीं रखना चाहता। बेटे जहाँगीर की चिट्ठी आती है कि पापा को 'वेलफेयर होम' में रख दिया जाए। ममा प्रस्तुत एकांकी में किसी प्रकार घर चला रही हैं। एकांकी से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने आजीवन घर-गृहस्थी का भार ढोया है और अभी भी अकेले ही अपने वृद्ध-बीमार पति की सेवा में लगी हैं। ममा-पपा पारसी

दम्पत्ति हैं, पर वे आज किसी भी परिवार की प्रतिनिधित्व करते हैं। अर्थवाद ने अर्थात् आज के भौतिक युग में मानव के बीच में रिश्तों में दूरी आ गई है। असमर्थता का अहसास पपा को चारपाई पर लेट जाने के लिए विवश करता है। चारपाई के ढीले पड गए स्प्रींग के समान ढीले पड गये सम्बन्ध समय-असमय बदन के फफोलों को तो दुखाते रहते हैं। वे लोग जो पहले मिलने आ जाते थे, उनमें से भी अब कोई नहीं आता ... जैसे डर लगता है हर एक को कि.."[67] पर पपा इन सारी स्थिति को जैसे 'हंः' कहकर उपेक्षित करना चाहते हैं। डॉ. तिलकराज शर्मा इस स्थिति पर कहते हैं - "सत्य यह है कि उसके अंतर की सारी-सारी वेदना इस एक द्योतक शब्द से ही रुपाकार पाकर युग की मानसिकता को रेखांकित कर जाती है।"

"भारतीय समाज में माता-पिता के प्रति संतान का आदर-सम्मान, कर्तव्य निष्ठता और श्रद्धा-भक्ति का भाव केवल सांसारिक लाभ-हानि के हिसाब-किताब के आश्रित नहीं है। इसकी पुनीतता मनुष्य-मनुष्य के बीच के सबसे निकटतम संबंध के कारण है। परिवार के जीवन में अधिकारों और दायित्वों की श्रृंखला इस मार्ग पर ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे चलती जाती है। लेकिन बुर्जुआ समाज की व्यक्तिवादिता अधिकारों का उपभोग तो करना चाहती हैं, पर दायित्व को स्वीकार नहीं करना चाहती है। भट्टजी ने इस मनोवृत्ति का नाटकीय चित्र खींचा है 'बाबूजी' में।"[68] 'बाबूजी' एकांकी में हमारे नये परिवारों का संघर्ष, नये पुराने आदर्शो का तुलनात्मक अध्ययन, आधुनिक सामाजिक रहन-सहन का खोखलापन, वृद्ध पिता का अपमान और भौतिक मूल्यों की संकुचितता प्रकट की है। आधुनिक युग की स्वार्थ से वशीभूत संतान अपने वयोवृद्ध जनों की उपेक्षा करके अपने नवागन्तुक व्यक्ति का, मेहमान का आदर-सत्कार करती है। सामाजिक मिथ्याडम्बर, दिखावे एवं पारिवारिक जीवन में भी कैसी स्वार्थ कटुता और निर्ममता है- इसका भी यथार्थ चित्रण प्रस्तुत एकांकी में किया गया है।

'तौलिये' शीर्षक एकांकी में 'अश्क' जी ने मधु के हठाग्रही मनोवृत्ति को चित्रित कर इसे पारिवारिक विघटन का एक कारण दर्शाया है। पारिवारिक जीवन की सहजता और सरलता की ओर लेखक ने संकेत किया है कि केवल जिद् और हठ के आधार पर गृहस्थ जीवन की नींव रखी होगी तो ढह जाने का अंदेशा रहता है। क्योंकि ऐसे में आपसी सम्बन्धों में दरार आ जायेगी और सम्बंध विच्छेद हो जायेगा। स्वयं को केवल कुछ सीमा कुछ दायरों में बंधित कर देने मात्र से संस्कारी जीवन की अभिव्यक्ति नही हो सकती बल्कि आपसी सम्बन्धों, रिश्तों में मृदुता और उदारता अति आवश्यक तथ्य हैं जिनके अभाव में पारिवारिक जीवन की सफलता मे संदेह है। केवल औपचारिकताओं के घेरे में स्वयं को रक्षित कर देने और इसे ही सभ्यता, आधुनिकता और संस्कृति का नाम देना ठीक नहीं। ऐसी स्थितियों में आपसी रिश्तों में केवल नफरत और

घृणा आदि बुरी मनोवृत्तियों का ही बीजारोपण होगा। अतः लेखक ने मनोवैज्ञानिक कथ्य के माध्यम से एक सूक्ष्म किन्तु प्रभावी और अति उपयोगी संदेश प्रसारित किया है। स्वयं मधु के माध्यम से इस समस्या का हल अर्थात् समाधान प्रेषित किया है- "बर्बर बनने की क्या जरुरत है, मनुष्य सीमाओं को छूता हुआ क्यों चले। मध्य का मार्ग क्यों न अपनायें;न इतना खुले कि बर्बर दिखाई दे, न इतना बँधे कि सनकी।"[69]

'एक दिन' में मिश्रजी ने पुरातन एवं नवीन विचारों का संघर्ष चित्रित किया है। निरंजन प्रस्तुत एकांकी में आधुनिक युग के शिक्षित नवयुवकों का प्रतिनिधित्व करता है। अन्य पात्र राजनाथ अपने वंश की परंपरा को मर्यादा के लिए अपना सर्वस्व छोडने को तैयार रहते हैं। वह अपनी कन्या शीला को विवाह के पूर्व निरंजन से मिलने का विरोध करते हैं। उनका पुत्र मोहन उनसे कहता है कि इसमें कोई बुराई नहीं है और इस देश की मर्यादा के यह विरुद्ध भी नहीं है,क्योंकि यही स्वयंवर की प्रथा थी। इस पर राजनाथ कहते हैं, "इस देश की क्या मर्यादा है, तुम से न सीखूँगा। उसे सीखने के लिए किसी विलायती प्रोफेसर के पास भी न जाऊँगा। वह तो जिस तरह मेरे पूर्वजों के रक्त के रुप में मेरे इस शरीर में है उसी तरह संस्कार के रुप में मेरे इस शरीर में है , उसी तरह संस्कार के रुप में मेरे मन में हैं .....लडकियों का स्वयंवर यहाँ होता था पर चुनता कौन था? कन्या या वर? एक कन्या के लिए सैंकडों युवक आते थे। रुप, गुण, पौरुष में जो बड़ा होता है उसे कन्या चुनती... ।" प्राचीन भारतीय आदर्शो पर उनकी अटूट निष्ठा और विश्वास है। इन आदर्शो को त्यागकर आधुनिकता में बहना उन्हें स्वीकार नहीं और इसी कारण वे कहते हैं- "बिना इन सपनों के मनुष्य दरिद्र हो उठेगा। इन्ही से हम धनी हैं मोहन।..... तुम्हारे शब्दों, तुम्हारे इस युग में, इस देश की नई पीढ़ी बोल रही है, जिसका विश्वास अब अपनी जडों में नहीं है।"

राजनाथ का चरित्र एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र है जो अपनी मान्यताओं और आदर्शो का त्याग कर आधुनिकता के रंग में अपने चरित्र को रंगने के लिए किसी भी मूल्य पर तैयार नहीं। वह इस आधुनिकता का खण्डन करते हुए कहते हैं, "इस युग में अपना सबकुछ विदेशी ऑखों से देख रहे हैं। स्वतंत्रता का उत्सव हम मना रहे हैं, अपने को भूलकर अपने गुण और अपनी मान्यताओं को भूलकर आगे चलने में जो पीछे घूमकर देखते नही थे, वही अब दूसरों के पीछे सरपट दौड रहे हैं.....।" इतना ही नही, वह आधुनिक शिक्षित भारतीय नवयुवकों की शिक्षा और चरित्र की कटु आलोचना करते हैं। देशवासियों की वर्तमान हीन दशा का प्रमुख कारण नैतिकता का अभाव बताते हुए वह कहते हैं, "तीस करोड के इस देश में आज तीस भी हँसने वाले नहीं हैं। इसका कारण केवल आर्थिक नहीं, नैतिक भी है। आर्थिक होता तो कम-से-कम मिल-मशीन वाले, पूँजी और चोर बजार वाले तो हँसते। उनकी तिजौरियाँ भरी हैं, पर मन खाली है। चरित्र बल अब हमारी

धरती में नही है। जो पीढ़ी आ रही है उसका नमूना निरंजन है, मोहन है। देखो इन्हें, खड़े-खडे कॉप रहे हैं जैसे अभी रो पड़ेंगे या गिर पड़ेंगे। यह नयी शिक्षा क्या हुई चरित्र की बागडोर छोड़ दी गई। मन के विकार और भावना की ऑधी में सेमर की रुई-सी हमारी यह पीढी उडी जा रही है।" अतः राजनाथ के चरित्र द्वारा मिश्र जी ने अपने उन विचारों को व्यक्त किया है जिनमें भारतीय आदर्श और मान्यताओं द्वारा देश और समाज की उन्नति हो सकती है और यही उनका ध्येय है।

शीला का चरित्र उस भारतीय नारी का चरित्र है जिसका अपने पिता की ही भॉति प्राचीन आदर्शो और मान्यताओं पर अटूट विश्वास है। उसके विचार से पुरुष का एकमात्र गुण है संयम और जिसमें यह नहीं उसका कोई अस्तित्व ही नहीं। अपने इसी भाव को वह इन शब्दों में व्यक्त करती है, "वह खींचना चाहता था अपनी चटक-मटक से, अपने उतावलेपन से शिक्षा और धन के दंभ से। किसी-न-किसी बहाने मैं बराबर उसके पास रहूँ, मुझे देखता रहे। मुझसे बाते करता रहे। मेरे भीतर उसके लिए कुछ छिपा न रहे दो ही दिन में वह सब कुछ जान जाय, उसकी सारी भूख मिट जाय..... पुरुष का गुण न धन है, न रुप, न विद्या, कहाँ तक वह अपने को रोक पाता है, कितना संयम उसमें है?" शीला के चरित्र की सबसे बडी विशेषता है, प्राचीन परंपराओं और आदर्शो में उसकी निष्ठा और विश्वास। जब मोहन उसे समझाते हुए कहता है कि न तो तुम जानकी हो और न अब वह युग ही रहा तो उत्तर में वह कहती है, "जानकी का युग इस देश से कभी नही मिटेगा। मैं जानकी हूँ। इस देश की कोई भी स्त्री जानकी है। जब तक हमारे भीतर जानकी का त्याग है, जानकी की क्षमा है, तब तक हम वही हैं। तुम्हारे लिये जानकी पौराणिक हैं इसलिये असत्य है। मेरे लिये वह भावगम्य हैं। उनके भीतर मेरी सारी समस्याएँ, सारे समाधान हैं। राम में तुम अविश्वास कर सकते हो, जानकी में अविश्वास का अधिकार तुम्हें नहीं है।"

'प्रलय के पंख पर' एकांकी में मिश्रजी ने पिता-पुत्र का मतभेद और उससे उत्पन्न विषमता का चित्रण किया है। केशवचन्द्र पुराने विचारों के व्यक्ति हैं जबकि उनका पुत्र दयाराम आधुनिकता के रंग में रंगा हुआ साम्यवादी विचारधारा का नवयुवक है। प्राचीनता एवं नवीनता में सदैव विरोध रहता है, अतएव पुरानी लीक पर चलने वाले केशवचन्द्र और नवीन विचारों के समर्थक उनके पुत्र दयाराम के विचारों में विरोध होना स्वाभाविक है। दयाराम का यह विरोध अपने पिता केशवचन्द्र से नहीं वरन् उस पीढी से है जो उसे बाँधकर रखना चाहती है। प्रस्तुत एकांकी में पात्रों के चरित्र द्वारा प्राचीनता एवं नवीनता में परस्पर विरोध दिखाकर भी अंत में मिश्र जी ने दोनों का समन्वय प्रस्तुत किया है। आधुनिकता का कट्टर पुजारी दयाराम अंत में अपने पिता के सम्मुख स्वीकार करता है, "पुराने से नया अलग नही है। कह रहा हूँ.. विश्वास करें, अब ऐसा न

होगा।" इसी प्रकार केशवचन्द्र के चरित्र में भी अंत में समन्वय का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। यह समस्या आज के भारतीय समाज की एक प्रमुख समस्या है। मिश्र जी ने यहाँ समस्या की प्रस्तुति के साथ उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। पीढियों के अंतर से जो संघर्ष होता है उसकी समाप्ति तभी संभव है जब दोनों पीढ़ियाँ एक-दूसरे को समझे तथा उन्हें आदर दें। कुछ हद तक यों कहा जा सकता है कि पुरानी पीढी को भी नई पीढ़ी के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना चाहिए। समय के साथ कुछ परिवर्तन अवश्य स्वीकारना चाहिए वरन् यही संघर्ष का मूल कारण बन जाएगा।

'प्यालियाँ टूटती हैं' एकांकी में मोहन राकेश जी ने आत्म विश्वास खोने वाले व्यक्ति का चित्रण किया है। यह मानसिकता आज के युग की देन कहा जाएगा क्योंकि अपने प्रति, समाज के प्रति अन्य लोगों के नजरिये के प्रति अतिरिक्त चौकन्नापन लोगों को सहजता से नहीं जीने देता है। माधुरी मध्यवर्गीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है - जो कई प्रकार के काम्पलेक्स से घिरी हुई है। वह प्रदर्शनप्रिय और कृत्रिम जीवन जीती है। क्लब की नयी सदस्या मिसेज मेहता को प्रभावित करने के लिए तरह-तरह की तैयारियाँ करती है। वह प्यालियाँ टूटने को अमंगल मानती है। एक नई, पुराने से ऊबी हुई संशयाकुल मानसिकता उफनने लगती है- "जब एक-के-बाद-एक तरह प्यालियाँ टूटती हैं तो जरुर कोई-न-कोई अनिष्ट होता है।" और माधुरी की इस अनिष्ट की आशंका से उदित होती है। मीरा की नई मानसिकता - "पुरानी चीज तबाह हो, तभी तो नई आती है। नया आ जायेगा।" यानि कि 'प्यालियाँ टूटती हैं" और इस अर्थ में पुराने संबंधों जो परिस्थितियों की विडम्बना के कारण अयाचित बन गये हैं, उनकी टूटन का अहसास उभरने लगता है और फिर पुरानी के टूटने या तबाह होने पर ही तो नए का आगमन होता है माधुरी छोटी दुनिया में जीती है, आजकल की उन मध्यवर्गीय महिलाओं की तरह जो कृत्रिम जीवन में फँस गई हैं- ड्रोइंगरुम, सोफा-सेट, कार्पेट, पर्दे आदि। यह कृत्रिम जीवन मध्यवर्ग के खोखलेपन को दर्शाता है। जिसके साधन तो सीमित हैं पर शौक ऊंचे। माधुरी के लिए कितना महत्वपूर्ण है- मिसेज मेहता का आना। क्योंकि माधुरी आडम्बर में जीती है। वह दीवानचन्द को नहीं सहन कर पाती जिसने भारत-विभाजन में अपना सबकुछ खो दिया।अपनी बेटी को खोकर वह एक भिखारिन की बच्ची को ले आए हैं, उसे पालना चाह रहे हैं पर माधुरी इन उच्चतर मूल्यों को स्वीकार कर पाने में असमर्थ है।

अतः प्यालियाँ एक-एक करके टूट रही हैं। उनकी टूटन से उठने वाली झंकार में घुल-मिलकर सम्बन्ध भी अतीत की कहानी बनते जा रहे हैं। माधुरी कहती है- "अब यह जबर्दस्ती का रिश्ता है। किसी दिन दो-चार गुलाबजामुन ले आयेंगे। किसी दिन खट्टे चनों का कुल्लढ भर लायेंगे और जाते हुए एक मैला-

पुराना रुपये का नोट पम्मी के हाथ में दे जायेंगे। चार पैसे की चीज लायेंगे और मेरे कार्पेट अपने जूतों से खराब कर जायेंगे।" अपनत्व जताने के ये सारे ढंग कार्पेट पर उभरे धब्बों से ही बनकर रह गये हैं। जिन्हें राकेशजी ने अहसास करवाया है तथा यहाँ उभारा है। पुरानी टूटती प्यालियो में भरकर जब दीवानचन्द स्वयं अब रिश्ते के नाम पर एक बोर एक ऊब और एक जीवंत हेयता बनकर रह गये हैं, तो फिर उनकी गोद ली भिखारिन की बच्ची पम्मी की समकक्षता कैसे पा सकती है? दीवानचन्द ने अतीत में इस घर-परिवार की सम्बन्धता को निभाने के लिए चाहे कितना भी कुछ क्यों न किया हो, पर नये उभार में उसकी छाया तक मनहूस हो उठती है। इस प्रकार व्यक्ति अपने-आप के प्रति भी एक प्रकार अलक्षित-सी घृणा से भर जाता है। वह घृणा, वह घिनौनापन, अपने-आप से भागने की यह प्रक्रिया ही 'प्यालियाँ टूटती हैं' एकांकी की मानसिकता मे संबंधों की टूटन, रिश्ते-नातों की टूटन बनकर युग-परिवेश एक नया आयाम, एक नया अयाचित-सा बोध उजागर कर जाती है। प्यालियों का टूटना, संबंधों के अपनत्व का टूटना है। माधुरी जैसी अस्थिर, ऊपरी नोंक-झोंक के लिए मरने वाली स्त्रियाँ जो प्रेम, अपनत्व को तिरस्कृत करती हैं। व्यक्तित्व का बिखराव, आंतरिक हीनता माधुरी को अस्थिर बना डालती हैं। मनुष्यता को निभा पाना इस वर्ग-विशेष के लिए बहुत कठिन है। इसी वजह से आने वाला हीनत्व-बोध इस एकांकी में चित्रित हुआ है।

'अण्डे के छिलके' एकांकी में मोहन राकेश जी ने मध्यवर्गीय खोखली मान्यताओं को हास-परिहासपूर्ण संवादों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। पीढ़ियों की टकराहट से पुराने मूल्य टूटते और नये मूल्य दबे-दबे से उभरते दिखाई देते हैं। पुराना और पुरानी पीढ़ी एक प्रकार से लाचार होकर, सब कुछ सह लेने की मानसिकता को जुटा रही है। वह सब देख-सुनकर भी शायद अपनी जबान न खोल पाने के लिए विवश है। जबान खोलने पर भी तो एक प्रकार की अनपेक्षित एवं कथित उपेक्षा झेलनी पड़ रही है। प्रस्तुत एकांकी में बडे ही हल्के और समानान्तर ढंग से परंपराओं को टूटते हुए दिखाया है। इस टूटन के अंतराल में जो दोहरा दर्द छिपा हुआ है। छोडने न छोडने की जो मजबूरी है, उसे सजीव उभार, आयाम एवं परिवेश प्रदान किया है। सभी एक-दूसरे के दोहरे आचरण को सहने और चुपचाप सहे जाने की मानसिकता को ओढ़े हुए है। दोहरेपन को बनाए रखने में कोई भी अपने आप को बचाये नहीं रख पा रहा है, जबकि सभी उसे किसी न किसी स्तर पर बनाये रखना चाहते हैं। वे मूल्य, जो किसी को भी मानसिकता के स्तर पर स्वीकार नहीं है और जो भीतर ही भीतर स्वतः ही चरमरा कर टूट रहे हैं, मात्र दिखावे के लिए उन्हें प्रायः सभी बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। यही समूची नाटकीय विडम्बना है, जिसका रेखांकन प्रस्तुत एकांकी है। राकेशजी ने स्तरों का उद्घाटन एक-एक करके किया है। मन के इन्ही दोहरे स्तरों के कारण ही जैसे अपने ही घर में एक परायेपन की सी अनुभूति भर गयी है- "इस तरह पुकार रहे थे जैसे किसी पराये घर में आये हों।"

माधव के आ जाने से लगता है कि जैसे कोई समाधान सामने आ रहा है - "भैया सब जानते हैं, राजा। वे यह भी जानते हैं कि तुम्हारे बायें हाथ की ऊंगलियाँ किस तरह पीली हुई हैं। यह भी जानते हैं कि श्याम बाबू का दूध कमरे में क्यों जाता है और यह भी जानते हैं कि उनके सो जाने पर उनकी बीवी मोमबत्ती जलाकर कौन-सी किताब पढ़ा करती है। अतः दुराव या दोहरापन किसलिए? इसलिए- "आज से छिलके नाली में डाल दिया करो, इनके लिये डिब्बा रखने की जरुरत नही। .... और जहाँ तक अम्मा का सवाल है, अम्मा उन्हें नाली में पड़े हुए भी नहीं देखेंगी।" अतः प्रस्तुत एकांकी में परंपरागत मूल्यों-मानों के टूटन का स्वर मुख्य है। एक तरफ विरासत से मिला सब टूट रहा था, दूसरी तरफ यथार्थ अस्तित्व बोध के कारण कुछ-कुछ रुप अनवरत उघडकर सामने आ रहा था। यानि अण्डे का गूदा छिलकों को उधेड़कर बाहर आने लगा था। इस प्रकार मध्यवर्गीय लोगों के पर्याय से आम लोगों की मानसिक अवस्था चित्रित हुई है। वे न तो संस्कारों को झटके से तोड पाएंगे और न ही संस्कारों में बंधे ही रहेंगे। जो भी परिवर्तन होना है, आहिस्ता से होते रहता है। परिवर्तन की प्रक्रिया अनवरत है। सिर्फ वे सहजता से होते रहे, अण्डे के छिलके में पीढ़ी-दर पीढ़ी सूक्ष्म परिवर्तन का अंकन हुआ है।

'सही रास्ते' में वर्माजी ने सचाई और ईमानदारी का मार्ग प्रशस्त किया है। इसमें समाज के उन व्यक्तियों पर व्यंग्य है जो बाहर से कुछ और अंदर से खोखले तथा बेईमान हैं। सन्त, महात्मा से लेकर वकील, प्रोफेसर, कवि, सेठ, अफसरों तक की पोल खोली है। इसमें समाज के सभ्य और शिक्षित व्यक्तियों की कमजोरियों पर भारी व्यंग्य किया गया है। सत्यप्रकाश के पत्रों के अंशो से इस बात की पुष्टि हो जाती है - "दुनिया में आकर मैंने देखा कि दुनिया में सच्चाई और ईमानदारी की जगह बेईमानी।" सेठ गिरधारी मल को भेंटस्वरुप एक खून से भरी बोतल दी जाती है, जिसके साथ पत्र में लिखा है - "इस खून से मैं आपकी सहायता करना चाहता हूँ। आपकी मीलें तेल नहीं पीतीं, वे पीती हैं गरीब मजदूरों का खून .. खाना न मिलने की वजह से बेचारे मजदूरों में कितना खून रह गया होगा, यह आप भी जानते हैं... आप के मीलों में खून की कमी होने पर यह खून काम में लाइएगा..... थोडा ही सही, कुछ काम तो चलेगा।" प्रोफेसर महेन्द्रकुमार को दस चश्में भेंट में दिए जाते हैं। पत्र में लिखा है- "आप समझते हैं कि दुनिया से ऑख बंद करके किताबों को आँखें फाड-फाडकर पढने से लियाकत आती है। पैदा कीजिए ऐसी लियाकत। आप दुनिया की हस्तियों से अनजान बनकर आप लाखों किताबें पढते रहें।"[70]

'धोखेबाज' एकाकी द्वारा सेठजी कहना चाहते है, सफलता के लिए लक्ष्य साधन को महान् और

पवित्र होना चाहिए। उनकी नजर में दानमल का अपराध यह है कि उसने ऊँचे उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त हीन साधनों का प्रयोग किया। जो देश-सेवा अथवा परोपकार के लिये धन नहीं कमाते अथवा जो केवल वैयक्तिक सुख भोग के लिए या नाम के लिए धन नहीं कमाते अथवा जो केवल वैयक्तिक सुख-भोग के लिए या नाम-प्रसिद्धि के लिए धन अर्जित करते हैं उनके संबंध में कुछ स्पष्ट रुप से तो नहीं कहा है किन्तु सुझाया अवश्य है कि जब दानमल जैसे परोपकारी की यह दुर्गति हुई तो वे लोग जिनके साधन, साध्य दोनों अपवित्र है, सट्टा बजार की अस्थिरता के परिणाम से बचेंगे कैसे ? साथ ही सेठजी ने दूसरे प्रश्न द्वारा यह सोचने पर मजबूर कर देते हैं कि अपवित्र साधनों द्वारा प्राप्त पूँजी से पवित्र उद्देश्य की पूर्ति उचित है या अनुचित? अतः नायक के दुःखद अंत के द्वारा सामाजिक व्यसन, जुआ, सट्टा बाजारी आदि कुव्यसनों के भयंकर परिणामों से अवगत कराया है। 'मृत्युसभा' दरयावरसिंह मदनराज में मृत्युगृह में प्रविष्ट होने वाले सभी कुव्यसनों का संक्षिप्त वर्णन किया है। वर्तमान काल में भारत तथा अन्य देशों में बहुत से लोग कुव्यसनों में फँसे रहे हैं, उन्हीं लोगों के शिक्षार्थ प्रस्तुत किया गया है। इसमें नशा करने वालों पर व्यंग्य है कि नशा पीने वालों को शीघ्र ही यमपुरी में मंत्री बनाकर भेजा जायेगा। अर्थात् यदि वे अपनी आयु चाहते हैं तो नशा त्याग दें।

'बंद नोट' एकांकी में सेठ गोविन्ददासजी ने घूस, रिश्वतखोरी आदि देश में व्याप्त चतुर्दिक भ्रष्टता की एक झाँकी प्रस्तुत की है। मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है। कई बार ऐसी परिस्तिथियाँ उठ खड़ी होती हैं कि मनुष्य को न चाहते हुए अपने सिद्धांतों को ताक पर रखकर भी ऐसे कृत्य करने पड़ते हैं, जिन्हें वह स्वेच्छा से नहीं करता है। एकांकी में वैदैहीशरण को न चाहते हुए भी घूस देनी पड़ती है। किसी को भी घूस देने का शौक नहीं है। कोई भी व्यर्थ में पैसे निकालना नहीं चाहता है। किन्तु वह यदि ऐसा नहीं करे तो आज उसका कोई काम सुचारु रुप में संपन्न नहीं हो पायेगा। सेठजी एकांकी के माध्यम से कहना चाहते हैं कि इसी तरह हम घूस के बाजार में स्वयं भी शामिल होते रहें। केवल इस अंदेशे से कि हम क्या कर सकते हैं? या घूस देने के आरोप में कहीं हम पकड ही न लिये जाएँ। यह आनेवाली परिस्थितियों को ओर भी खतरनाक बना देगी। अतः इसके विरुद्ध कुछ साहसिक कदम अवश्य उठाने होंगे। अन्यथा सच्चे उत्साह के अभाव में अन्य कई ऐसी समस्याएँ उठ खडी होंगी जिनसे निजात पाना आसान नहीं होगा। स्थिति की गंभीरता को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता।

'नया-पुराना' एकांकी द्वारा 'अश्क'जी ने सत्य-असत्य का संघर्ष प्रस्तुत किया है। इसकी मूल समस्या ईमानदारी और बेईमानी की है। साठ हजार का जेवर लौटा देने वाले सद्पुरुष और आदर्शवादी अभी भी हैं। अर्थात् आज के जमाने में भी है। अतः ऐसे में आज आदर्शवाद के प्रति जो तिरस्कार की भावना है तथा जिस यथातथ्यवाद को यथार्थ का नाम दिया जा रहा है वह भ्रममूलक धारणा प्रतीत होती है। प्रस्तुत एकांकी

के माध्यम से मानवीयता को प्रतिष्ठित किया है। 'सबसे बड़ा आदमी' में भगवती चरण वर्माजी ने समाज के विभिन्न वर्गो के लोगों के चित्रण के माध्यम से धूर्त व्यक्ति चित्र प्रस्तुत किया है। ऐसे धूर्त बहुदा संपर्क में आते ही रहते हैं। रेस्तरां में लोगों में यह चर्चा छिड जाती है कि सबसे बडा आदमी कौन है? लोग संसार के बडे आदमियों का नाम लेते हैं। रामेश्वर प्रसाद अंत में निष्कर्ष स्वरुप कहता है- "जनाब! मैं कह सकता हूँ कि आप सब गलती पर हैं। शैली, नेपोलियन, गाँधी, लेनिन, ये सबके सब नाम है, केवल नाम। इन सबों से बड़ा, कहीं बडा मैं हूँ मैं। अभी आप लोगों पर यह साबित हो जायेगा।' उसके विदा होते ही यह ज्ञात होता है कि किसी का पर्स गायब कर दिया गया है और यह सिद्ध हो जाता है कि सबसे बडा आदमी कौन है ? यह विचारणीय विषय यह है कि आज की दुनिया में दूसरों को चकमा देने वाला ही क्या सबसे बड़ा आदमी है? 'यू नो' में भी सेठ गोविन्ददासजी ने शिष्ट समाज की विद्रुपताओं, मिथ्या प्रदर्शन और नेतृत्व पर व्यंग्य किया है।

'रेशमी टाई' शीर्षक एकांकी में मनुष्य की कमजोरी का चित्र खींचा गया है। इसके माध्यम से डॉ रामकुमार वर्मा बताते हैं कि बचपन की पडी आदत, बड़े होने पर भी जाती नहीं है। मनुष्य के स्वभाव की यह विलक्षण विवशता है। लेकिन प्रश्न तो तब खडा होता है जब वह अपने स्वभाव, अपनी लत की दुर्गुणता को दूर करने का प्रयास न करके अपना सारा ज्ञान-विज्ञान बुराई के समर्थन और उसके औचित्य के प्रतिपादन में खर्च कर देता है। बुराई से उतनी हानि नहीं होती जितनी बुराई के समर्थन की अनथक चेष्टा से। वर्मा जी ने प्रस्तुत एकांकी में एक साम्यवादी बीमा एजन्ट को टाई और खद्दर का थान चुराते हुए प्रदर्शित करके साम्यवाद की प्रतिष्ठा की है। यह एक अत्यधिक यथार्थवादी और समसामयिक एकांकी है। इसमें नवीनचंद्र के चरित्र के माध्यम से यह अभिव्यक्त किया है कि तथाकथित साम्यवादियों ने समाज को खोखला कर दिया है। क्योंकि वे विचारात्मक स्तर पर तो ऊँची-ऊँची इमारतें बनाते हैं किन्तु व्यवहार में बिलकुल थोथे होते हैं। जीवन के उत्थान-पतन का सजीव चित्रण वर्माजी के एकांकियों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। मानव-सुलभ दुर्बलताओं का चित्रण उन्होंने एक सीमा तक ही किया है और दुर्बल पात्र को या तो आदर्श पात्र की ओर उन्होंने मोड़ दिया है या उसका अंत इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है जिससे उसके जीवन का कलंक धूल जाय। 'रेशमी टाई' की नायिका लीला अपने दुबुद्धि और नीच-प्रकृतिवाले पति की प्रतिष्ठा को बचाने के लिए प्रयत्नशील है। उसका यह प्रयत्न उसके पति नवीनचंद्र के चरित्र को उसकी पत्नी की लीला की तरह मोडकर उसे चोरी करने से बचा लिया है। 'नाटक की यह विशेषता मानकर ही सफल नाटक के लिए यह मानदण्ड निर्धारित किया गया है कि सफल नाटक वही है जो जीवन को अपने अधिक से अधिक स्वाभाविक रुप में प्रस्तुत कर सके। यदि कलाओं को भावतत्व से रहित अपने शुद्ध रुप में आदर्शवादी कहा जा सकता हो तो नाटक कला को निर्विवाद रुप से यथार्थवादी कला घोषित किया जा सकता है।"[71]

'सूखे संतरे' शीर्षक एकांकी मे सेठ गोविन्ददासजी ने हरिजनों के साथ जुडी हुई कितनी समस्याओं को प्रस्तुत किया है। छुआछुत की समस्या को उजागर करती हुई प्रस्तुत एकांकी पर गाँधीवादी प्रभाव दिखाई देता है। यहाँ उन्होंने गाँधीजी के माध्यम से अछूतोद्धार की समस्या को रखा है। हरिजनों की विपन्नता को चित्रित करते हुए एक हरिजन बालक को किस तरह शिक्षा-उपार्जन के लिए दूसरों का मूँह देखना पड़ता है। एकांकी में शिक्षित और धनी वर्ग की हृदयहीनता का चित्र भी है। किसी में इतनी भावना नहीं दिखती है जो उस बालक की सहायता करता। सभी केवल स्वार्थ लिप्त हो गए हैं। आंशिक रुप से सेठजी ने बहु संतान की समस्या को भी चित्रित किया है। हरिजनों की विपन्नता का मुख्य कारण तो यही है। एकांकी में एक स्थान पर विट्ठोवा की माँ का वाक्य है - "मैं तो इन बच्चों के मारे बे-काम-सी हूँ।' 'चन्द्रपीड और चर्मकार' एकांकी में सेठजी ने भेदभाव दूर कर भारत से छुआछूत की रुढ़ि दूर करने के पक्ष में बडी तर्कपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। भारतीय राजा की उदारता और न्याय, सवर्णो तथा अस्पृश्यों से एक-सा व्यवहार, पुरानी रुढियों का परिमार्जन इस एकांकी की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

'मंदिर के द्वार पर' शीर्षक एकांकी में उदयशंकर भट्टजी ने भी हिन्दू समाज को कमजोर बनाने वाली अछूतों की समस्या को उठाया है। भट्टजी यह देखकर हैरान है कि हिन्दू मंदिरों में शराबी, चोर, जुआरी, रिश्वतखोर, गरीबों का खून चूसकर एक का चौगुना-पंचगुना करने वाले सेठों के लिए जगह है, उसमें सॉपों की चर्बी घी में मिलाकर लोगों का स्वास्थ्य बिगाडकर, बेईमानी के करोड़ों रुपये कमानेवाले मनुष्य के रुप में पशु, थैलीशाहों का (पुजारी जिनके पैरे के तलुवे सेठजी-सेठजी कहकर चाटने के लिए बेचैन रहते हैं) तो अबाध प्रवेश है लेकिन वहीं ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा, श्रद्धा रखनेवाले और मंदिर की रक्षा में अपनी जान की बाजी लगानेवाले हरिजन मंदिर प्रवेश के अधिकारी नहीं समझे जाते। भट्टजी की न्यायप्रिय आत्मा यह देखकर विद्रोह कर उठती है और 'मंदिर के द्वार पर' शीर्षक एकांकी नाटक के डॉक्टर के स्वर में वे पुजारी पर बरस पडते हैं और कहते हैं कि 'जो धर्म हरि जैसे श्रद्धालु भक्त को मंदिर के देवता की पूजा के अधिकार से वंचित रखता है, वह जिन्दा नहीं रह सकता। यदि भारतवर्ष से हिन्दू धर्म का नाश नहीं होना है तो प्रत्येक हिन्दू को मंदिर के प्रांगण में समान अधिकार देना ही होगा। छमिया का बेटा हरि मुसलमानों के आक्रमण के समय मंदिर की रक्षा करता हुआ घायल हुआ था। यदि वह और उसकी बिरादरी के दूसरे लोग नहीं होते तो मंदिर नष्ट-भ्रष्ट हो गया होता। उसी हरि के परिवार के ऊपर अगले दिन पुजारी का डंडा इसलिए बरसता है। अतः प्रस्तुत एकांकी में वर्गभेद, संकीर्णता, छुआछूत, मंदिरों के पुजारियों के अत्याचार आदि को चित्रित किया गया है।

'हरिकृष्ण प्रेमी' ने भी 'पश्चात्ताप' में हरिजनों पर होनेवाले अत्याचारों की करुण कहानी चित्रित की है। इसमें पुरातन रुढिवादिता और नवीनता का संघर्ष है। ऊँच-नीच की घातक प्रवृत्ति का मूलोच्छेदन करके सामाजिक समता की प्रस्थापना इसमें की गई है। रधिया कहती है - "माँ, हम ऐसे पंडितों से तो अधिक स्वच्छ हैं। ये मंदिर में जा सकते हैं, तो हम क्यो नहीं?. . . यह व्यवस्था इन्ही की बनाई हुई है। यह इनका अत्याचार है। और हमारी बेसमझी।"[72] प्रेमीजी ने इसका कारण पाश्चात्य दुष्प्रभाव को बताया है। यह पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव है। दो अक्षर अंग्रेजी के पढ गए तो अपने बड़े बूढों को, देशी वस्तुओं को, देशी रीति-रिवाजों को निकम्मा और हीन समझने लगे ।[73] .....पश्चिम की हरेक वस्तु आराध्य बन गई है। सामाजिक समता की प्रस्थापना करते हुए आपने कन्हैयालाल के माध्यम से बताया है कि "संसार में न कोई बडा है, न कोई छोटा। विद्या प्राप्त करने का सबको अधिकार है। और सबके साथ एक-सा बर्ताव होना चाहिए। आप सबको समाज में बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए। आपको इसकी माँग करनी चाहिए - उसके लिए लडना चाहिए।[74] अछूत से ईसाई हो जाना तो इस बीमारी का ईलाज नहीं है। समस्या के समाधान के रुप में प्रेमीजी कन्हैयालाल के माध्यम से कहते हैं कि हमें ऊँची जाति वालों के हृदय बदलने की और अछूत कही जानेवाली जातियों का रहन-सहन बदलने की जरुरत है।

'मेड़ तोड दी' एकांकी में मिश्रजी ने गाँव के चित्र की प्रस्तुति बडी ही स्वाभाविकता और यथार्थता के साथ की है। यहाँ भी आपने असत् वृत्तियों पर सद्वृत्तियों की विजय दर्शाई है। भोला और रघुनाथ क्रमशः इसके प्रतिनिधि हैं। प्रस्तुत एकांकी के अंतर्गत सरकारी अदालत, डाक्टर तथा थानेदार आदि की अनैतिकता का चित्र भी प्रस्तुत किया गया है। अदालत के संबंध में भोला कहता है, "तब कहो कि अदालत में भी धूर्त और चालाक निपटता है, वहाँ भी भगवान का न्याय नही होता।" बनवारी भी अपने पिता के इस कथन का समर्थन करता हुआ कहता है, "बिल्कुल नहीं बाबू, ... वहॉ रुपये और अकिल का जाल फैलता है।" थानेदार को जब यह विदित होता है कि भोला ने रघुनाथ को क्षमा कर दिया है तो उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं होती कि अत्याचारी दण्ड नहीं पा रहा है, वरन् वह सोचते हैं कि जब उसे छूटना ही था तो यदि वह प्रारंभ में ही कुछ रुपये लेकर मुकदमा बिगाड़ देते तो ठीक था। आजकल हर जगह रिश्वतखोरी है, बेईमानी और अन्याय है। सब केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। दूसरे के हित-अहित से किसी को कोई सरोकार नहीं रह गया है। किन्तु अंत में दुर्भावनाओं की पराजय को दिखाकर मिश्रजी ने समाज को महान् संदेश दिया है कि आज भी केवल सत्य की विजय, अच्छाई का ही बोलबाला है।

'रुप की बीमारी' एकांकी में वर्माजी ने डाक्टरों और उनकी 'एलोपैथी सायन्स' की एक बडी त्रुटि की

ओर भी संकेत किया है। वे ऐसा मानते हैं कि आजकल के नवीन विज्ञान के धनी ये डॉक्टर, अंधेरे में तीर चलाते हैं। रुपचन्द की बीमारी का निदान करते समय सचमुच डाक्टर दासगुप्ता और डॉक्टर कपूर अंधेरे में तीर ही तो चला रहे हैं।[75] रुप के पिता खीझ में ही सही बडे पते की बात कह गए हैं कि 'ये डॉक्टर नहीं है, बीमारी के वकील हैं। रुपये खाकर बीमार को भी खा डालने का हुन्नर सीखे हुए हैं, बस रोजगारी है।'[76] सेठ सोमेश्वर ने सच ही कहा है - 'अगर वैद्य बेवकूफ न होते तो इन डॉक्टरों का मूँह भी न देखता। मूँह देखकर सौ बार नहाता।'[77]

'सयाना मालिक' में 'अश्क' जी ने नौकर-मालिक के आपसी संबंधों और उससे जुडी हुई अनेक समस्याओं पर छींटाकशी की है। एकांकी में नौकरों की ईमानदारी के प्रति अविश्वास व्यक्त किया है। साथ ही पुलिस की लापरवाही और निष्क्रियता, पड़ोसियों में घटती सौहार्द की भावना तथा 'एम्प्लोयमेंट एक्सचेंज' की कार्यक्षमता और सजगता पर भी फबती कसी है और इस तरह 'अश्क' जी ने चोरी की घटना की पुनरावृत्ति द्वारा अपने मन्तव्य को बखूबी प्रस्तुत किया है तथा समाज और उससे जुड़ी हुई कई छोटी-बडी समस्याओं को हास्य और व्यंग्य के साथ बडी सहजतापूर्वक प्रस्तुत किया है। 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन' में आपने उद्घाटन की औपचारिकता पर व्यंग्य किया है। उद्घाटन का आयोजन केवल लोभ पर आधारित होता है। लेखक ने हमारी सार्वजनिक संस्थाओं की दशा को देखकर खोखली औपचारिकता को व्यंग्य का विषय बनाया है। अतः प्रस्तुत एकांकी में लेखक ने निरर्थक व्याख्यानों पर उद्घाटन की परंपरा पर, ख्यातिप्राप्ति के इच्छित व्यक्तियों पर व्यंग्य किया है।

'सत्य का मंदिर' एकांकी में भट्टजी ने आज के मानव समाज की विकृतियों पर कठोर प्रहार किया है तथा नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन किया है। सत्य का संबंध आत्मा से है। नेक नामों से है। जीवों पर दया करने से है। मन, वाणी, कर्म के एकत्व से है। आदि उदात्त तत्वों को प्रतिस्थापित करते हुए मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामूहिक विकास के लिए कतिपय नैतिक मूल्यों की महत्ता प्रतिपादित की है।

एकांकियों में विवेचित आर्थिक संघर्ष :

एक युग था जब व्यक्ति साधारण कार्यो को करके संतोष प्राप्त कर लेता था, उसकी अवधारणा कबीर के अनुसार - 'साई इतना दीजिए जामे कुटुम समाय,

आप न भूखा रह सके साधु न भूखा जाय ।।'[78] तात्पर्य यह है कि मनुष्य आवश्यकता से अधिक प्राप्त करने की चाह नही रखता था। किन्तु आज का मनुष्य अर्जन करने में विश्वास करने लगा है, इसलिए वह निरन्तर व्यापार, नौकरी, व्यापारिक विश्व भ्रमण आदि के माध्यम से अधिकाधिक अर्जन करने में लगा हुआ है। इस प्रकार अर्थ के ब्रह्मराक्षस ने मनुष्य के चिन्तन मे एक अनैतिक परिवर्तन ला दिया है। वर्तमान युग अर्थ पर इतना अवलम्बित है कि इसे 'अर्थ-युग' कहा जाता है। आज विश्व की सभी गतिविधियाँ और कार्य-कलाप अर्थ से संचालित होते हैं। आज भारत के लिए सबसे जटिल समस्या है अर्थ की। किसी भी देश की आर्थिक स्थिति का अत्यन्त सम्पन्न होना उसके लिए अत्यन्त अनिवार्य है। यह अर्थ जीवन की धुरी है। मानव जो भी क्रिया-कलाप करता है वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप में इसी अर्थ के लिए होते हैं। यह अक्षय तूणीर मंजूषा अर्थाभाव में कभी तृप्त नहीं हो सकती। यही कारण है कि राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक आदि सभी समस्याओं का मूल कारण यही है। आज के जीवन की संपूर्ण साधनाएँ लक्ष्य एवं अभिलाषाएँ इसी पर आश्रित है। लगता है कि मानव ने अपनी सारी मानवता इसी अर्थ के हाथों बेच दी है। वह स्वयं उसके हाथों की कठपुतली है और जिधर चाहता उधर नचवा लेता है, समाज में ऊँच-नीच, दहेज, वर्ग वैषम्य, पूँजीपति, मजदूरों के संघर्ष जैसी जटिल समस्याएँ इसी से उद्भुत हैं। आज का साहित्यकार इसी समस्या को लिए हुए इसके विभिन्न पहलुओं और विभिन्न रुपों को प्रस्तुत कर रहा है। मानव संकट से इतना परेशान है कि वह मानवता जैसे सुंदर से सुंदर नाते का परित्याग करने के लिए विवश हो जाता है। बढ़ती अर्थलोलुपता से संपूर्ण जीवन समस्याओं से भर गया है।

अभाव मनुष्य को विरासत में मिला है। उसकी अधिकता या कमी वर्ग-विशेष में ही लक्षित होती हो- यह बात भी नहीं कही जा सकती क्योंकि अभाव की अनुभूति का स्तर बहुत कुछ वैयक्तिकही माना जा सकता है इसीलिए व्यक्ति की अपनी परिस्थितियों और आकांक्षाओं के अनुरुप अभाव उभरकर सामने आता है। पर फिर भी अभाव की कडुवाहट से मुँह और शरीर विकृत करने का जितना अधिक अनुभव मध्यवर्ग में लक्षित किया जा सकता है उतना शायद अन्य किसी वर्ग मे नहीं। इस बात के कारणों की विस्तार से चर्चा करना हमारा विषय नहीं है, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति में आस-पास की परिस्थितियों के कारण तथा उच्चवर्ग के व्यक्तियों के सपर्क में आकर कुछ और पाने की लालसा इतनी तीव्र हो जाती है कि वह जो कुछ प्राप्त है उससे संटुष्ट होना चाहता ही नही है। यद्यपि उसके इस असंतोष के कारण उसका

व्यक्तिगत जीवन कड़ुवाहट से भर जाता है और कई बार तो जो प्राप्त है उसको भी वह खो देता है- पर एक के बाद एक ठोकर खाकर भी वह प्राप्त से मुँह मोड अप्राप्त की ओर तेजी से बढ़ना चाहता है। निराशा और असफलता उसके मन को बार-बार झकझोर देती हैं पर उसे अपनी गलती का एहसास होता है तो वह अपनी भटकी हुई राह पर इतना आगे बढ़ चुका होता है कि लौटने का उत्साह उसके मन में जाग्रत नहीं होता। यदि हो भी जाए तो झूठी शान और सम्मान के सहारे उसे दफना देने की कोशिश की जाती है। मध्यवर्ग की यह अजीब स्थिति एकांकीकारों का ध्यान बराबर आकर्षित करती रही है। आर्थिक वैषम्य के परिणामस्वरुप आज सामान्य व्यक्ति के जीवन का संतुलन बिगड़ गया है। मध्यवित्त-वर्ग के लोग इस यंत्रणा से पीडित हैं। मध्यवर्ग निम्नवर्ग पर खड़ा होकर उच्च वर्ग के रंगीन सपने देखता है। अपनी सीमित आय में उच्चवर्ग से स्पर्द्धा करना चाहता है। आय की अपेक्षा व्यय अधिक करता है। फलस्वरुप उसे आर्थिक असंतुलन का सामना करना पड़ता है। इस आर्थिक असंतुलन जनित पीडा के कारण मध्यवर्ग में विद्रोह या क्रांति की भावना अपेक्षाकृत अधिक रही है।

सीमित और निश्चित आय के कारण मध्यवर्गीय पुरुष अपने परिवार की आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं कर पाता है। फलतः उसका तथा उसके परिवार का जीवन दुःखमय हो जाता है। इस स्थिति के कथ्य को एकांकीकारों ने अनेक प्रकार से अपनी एकांकियों में इसका अंकन किया। आर्थिक असंतुलन के परिणामस्वरुप आज का व्यक्तित्व बिखरा-बिखरा सा प्रतीत होने लगा है। आर्थिक दृष्टि से हीन लोगों का समाज में कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। अर्थ के अभाव में वह किंकर्तव्यविमूढ़ता की जिन्दगी जीने को विवश है। आधुनिक भारतीय समाज में बेकारी की समस्या निरंतर बढती जा रही है और कई शिक्षित बेरोजगार नौकरी तलाश में भटकते फिरते हैं। आशा और निराशा के भँवर में उनका व्यक्तित्व डूबता उतराता दृष्टिगत होता है।

'उन्नीस सौ पैंतीस' एकांकी के माध्यम से भट्ट जी ने पढे-लिखे ग्रेजुएटों की बेकारी, बेबसी, व्याकुलता और विक्षिप्तावस्था, खोखलापन, नैराश्य का करुणात्मक और मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित किया है। नौकरी के लिए चारों ओर भटकने वालों के प्रति संवेदना प्रकट की गई है। आज के युवक नौकरी की ओर दौडते हैं, किन्तु स्वतंत्र-जीविकोपार्जन करना नहीं चाहते। इसका प्रमुख पात्र सुरेन्द्र अर्जी भेजकर जो हवाई किले बाँधता है, उसमें एकांकीकार ने आज के शिक्षित युवकों के दुर्बल मस्तिष्क और विकल भावनाओं का सघर्ष चित्रित किया है। जब आधुनिक शिक्षित नवयुवक रोजगार नहीं पाता तो वह हीन भावना का शिकार होकर निराशावादी बन जाता है। जिस काम को वह वास्तविक रुप मे पूरा नही कर पाता है, तो उसे वह देवास्वप्न में पूरा करना चाहता है। इस प्रकार अवचेतना में दबे हुए कुण्ठित हवाई किले वास्तविकता में पूरा न कर सकने

के फलस्वरुप कल्पना में पूरा करता है। अतैव इस एकांकी में कल्पना-लोक का थोथा सौन्दर्य और यथार्थ की कठोरता का सम्मिश्रण है। इस तथ्य की पुष्टि सुरेन्द्र द्वारा कहे हुए संवाद से हो जाती है जो आधुनिक शिक्षित बेरोजगार नवयुवकों की मनोदशा का यथातथ्य विश्लेषण करता है- "सच तो यह है कि गरीब के लिए यह दुनिया होती नहीं। हम लोग जवानी में जिसे जीवन समझते हैं, क्लास रुम में बैठकर जिसे ध्येय मानते हैं, वह सपना निकलता है। देश की सेवा कौन नहीं करना चाहता, पर परिस्थिति भी तो कोई चीज है।"[79]

'ग्राम-पाठशाला' एकांकी में लाला काशीनाथ खत्री जी ने पढ़े-लिखे बेकारों की चिन्तनीय दशा दिखाई है। नायक मजमूल खाँ की नियुक्ति शिक्षक के रुप में मूरखपूर गाँव की पाठशाला में होती है। केवल पाँच रुपिया मासिक वेतन उसे प्राप्त होता है। डिप्टी साहब विद्यालय के दौरे के समय विद्यालय में विद्यार्थियों की उपस्थिति अति न्यून देखकर क्रोधित होते हैं। शिक्षक पर दो रुपया जुर्माना कर देते हैं। मजमूल दुःखी होकर कहता है- 'हाय! हाय! पढकर हमने यह फल पाया, हाय! यही हमारी रातों के उकले दिस, तवारीख और जबर मुकाबला रटने का नतीजा है। हमारी तो उसी साई की मसल हुई, जिसने सिपाही की नौकरी की थी और लड़ाई देखकर यों कहा था - तुन्तुनी बजाते मिया खाते शक्कर घी। इस नौकरी की ऐसी तैसी। अब के बचे जी। मजमूल सोचता है कि इससे तो अच्छा जुलाहे का कार्य ही था। बस वह नौकरी के लिए पश्चाताप करता है और कहता है, 'या अल्लाह, बडे निर्दयी से पाला पडा है। एक रुपये से ऊपर खा गया, दो रुपये जुरमाना कर गया, बचे दो रुपये। कहो क्या इससे मैं महीने भर का खर्चा चलाऊँ? क्या घरवालों को जहर दूँ? गाँव में यहाँ एक कौडी का किसी का सहारा नहीं, बल्कि उल्टे अपने पास से किताबों के दाम देता हूँ। फिर भी लड़के पढने नहीं आते। हाय! कैसे बिचारे दीन-दुखियों के प्रान बचें। धिक्कार है ऐसी नौकरी करना, भीख मांगकर पेट भरना अच्छा है, पर या खुदा! ऐसी नौकरी न करवायें; कुसूर किसी का और मारा जाए कोई और जब इतनी खुशामद और मिन्नत से भी लड़के न पढने आवें, तो कहिए मुदर्रिस ईंट पत्थरों को पढ़ावें। ऐसी तैसी में गई यह नौकरी भाई इससे तो वही अपने घर का उद्यम अच्छा।" अतः खत्री जी का उद्देश्य है कि जब तक शिक्षक की आर्थिक अवस्था सुधरती नहीं, समाज में उसे पूर्ण सम्मान नहीं मिलता, तब तक शिक्षा में भी सुधार संभव नहीं है। यह एकांकी आज की परिस्थितियों में खरी उतरती है।

जी पी. श्रीवास्तव ने 'उलटफेर' में अनेक समस्याएँ उठाई हैं। जैसे- मुकदमेबाजी के दुष्परिणाम, शिक्षित बेकार जो वकालत का आश्रय लेते है, बेकारी को दूर करने के लिए कल-कारखानों की स्थापना। डिप्टी कलक्टर मिर्जा अलल्टप्पू इसके नायक हैं। ये अपने अधिकार के मद में चूर रहते हैं। ये एक निर्दोषी वकील लालचन्द्र को अपनी अदालत में दण्ड देते हैं। समय और परिस्थिति-चक्र अलल्टप्पू से डिप्टी

कलक्टर से वकील बना देते हैं। उधर लालचन्द्र मुन्सिफ बन जाता है। इस बार अपराधी अलल्टप्पू होते हैं जो लालचन्द्र के न्यायालय में पहुँचते हैं। परन्तु मानवता के नाते लालचन्द्र उसे क्षमा प्रदान करता है। 'उलटफेर' शीर्षक का सम्बन्ध इसी उलटफेर से है। इसका विषय मुकदेमबाजी में व्यस्त जगत है। चपरासी से जज तक सभी उपहास का पात्र बने है। हमारी अनपढ़ जनता मुकदमेबाजी में पड़कर अपना सर्वनाश करती है। अधिकारी वर्ग भ्रष्ट हैं। पात्रों की वर्गगत विशेषताएँ चित्रित की गई हैं। न्याय दिलाने वाले वकील कितने स्वार्थी हैं कि अनपे ग्राहक को प्राण-दण्ड की सजा मिलने पर भी अपने शुकराने को लेना नहीं भूलते हैं - "कुछ परवाह नहीं है, तुम घबडाना मत। अपने राम का नाम लेकर लटक जाना। हम तो अपील से समझ ही लेंगे। लाओ इसी बात का शुकराना।" अतः जी.पी. श्रीवास्तवजी ने यहाँ न्याय-व्यवस्था के दोषों के प्रति सचेष्ट किया है।

'नया नाटक' एकांकी में उदयशंकर भट्टजी ने सरस्वती के वरद्-पुत्रों को कैसी मुसीबतें उठानी पड रही हैं इसे चित्रित किया है। उन्हें जो वेतन मिलता है, वह महँगाई के कारण इतना कम पड़ता है कि उसके पूरे परिवार का भरण-पोषण नहीं हो सकता। वह जिस घर में रहता है, वह किराये का है और मकान-मालिक बढती हुई महँगाई का पूरा फायदा उठाना चाहता है। यदि किराया बढाने से इंकार किया जाय तो मकान मालिक बेघर कर दे। सरकार का सारा तंत्र पूँजी वाले अमीरों के पक्ष में है। इससे हालत यह हो सकती है कि मकान से भी जाओ और पुलिस के फेर में भी पड़ो और सबके ऊपर यह कि किराये की बढी हुई राशि का भुगतान तो करना ही पड़ेगा। उसमें कोई छूट तो होती नहीं। जिस साहित्यकार की यह दशा हो, वह साहित्य-साधना क्या कर सकता है? अभावों की दुनिया में रहने वाले इस साहित्यकार के पास उसका परिचित त्रिभुवन पहुँचता है। त्रिभुवन के यहाँ कभी इस साहित्यकार ने नौकरी की थी। लेकिन वह इतना काइयाँ मालिक सिद्ध हुआ कि वेतन के रुप में उसने 100 से 125 कभी नहीं दिया। यही नहीं, बल्कि बिना नोटिस दिए उसे निकाल भी दिया। इस त्रिभुवन को साहित्यकार की जरुरत आ पड़ी है। वह कहता है- 'मुझे मालूम है जिस आदमी के पास मैं जा रहा हूँ, उसे तुम जानते हो। मेरा परिचय भर करा दो, फिर मैं देख लूँगा।' पच्चीस हजार के इस सौदे के लिये यदि आवश्यकता हो तो त्रिभुवन नाटककार को दो-चार सौ रुपये दे देगा।"[80] अभाव की चक्की में पिसने वाले साहित्यकार के लिए यह प्रलोभन कुछ अर्थ रखता है, यह तो स्पष्ट ही है। लेकिन इस बेईमानी के लिए उसकी नैतिकता बाधक बन जाती है और वह निश्चय करता है कि वह रुखी ही खायेगा लेकिन बेईमानी में शरीक न होगा। भट्टजी ने अपने आदर्शवाद की रक्षा के लिए ही त्रिभुवन के इस प्रकरण को नाटक में प्रस्तुत किया है। यह उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जब साहित्यकार का पुत्र कहता है- 'हमें गर्व है कि हमारे पिता जी इतने अच्छे हैं। ईश्वर करे हमें इनके चरण चिन्हों पर चल

सकें।"

इस छोटी-सी एकांकी में इस प्रकार भट्टजी ने आज के जीवन की कतिपय समस्याओं को उठाया है। ये समस्याये छोटी-छोटी समस्याये तो हैं लेकिन आज के जीवन पर इनका गहरा प्रभाव पड़ रहा है। मकान की समस्या बढते किराये की समस्या होकर व्यापक महँगाई की समस्या हो रही है। आज के दिन उस आदमी के लिए ईमान की जिन्दगी जीना सचमुच कठिन हो गया है, जिसकी आमदनी थोड़ी है लेकिन जिसके पास ईमान जैसी कोई चीज है और वह उसे सँजोकर रखना चाहता है। दुनिया सिफारिश की हो गयी है और सिफारिश करने की भी फीस चल पड़ी है। इस एकांकी के प्रधान पात्र की तरह के आदमी के लिए चारों तरफ प्रलोभनों का जाल बिछा हुआ है, जिससे बचकर रहना सचमुच जीवट की बात है। पूँजी बटोरने की प्रवृत्ति हमारी आज की सबसे बड़ी समस्या है। इसी कारण मकान-मालिक किराये बढाने को कहता है अथवा त्रिभुवन साहित्यकार से सिफ़ारिशी चिट्ठी लेने आया है। राष्ट्र की समृद्धि की सूचना जिस साहित्य में प्राप्त होती है, उसके सर्जन के लिए साहित्यकार को सुविधा प्राप्त नहीं है, यह स्वयं अपने में एक भीषण बात है। जो अज्ञानी हैं, वे तो पूँजीपति होने के लिए होड कर ही रहे हैं - उसकी मुसीबत यह है कि उसके पास वह इतमीनान नहीं, जिसमें वह ऐसे साहित्य की रचना कर सके, जिससे पूँजीवाद का भंडाफोड हो सके। इस एकांकी मे भी भट्टजी समस्या के समाधान का संकेत करते हुए दीखते हैं।

'अठ्ठारह जुलाई की शाम' एकांकी में डॉ. रामकुमार वर्माजी ने उषा का चारित्रिक परिवर्तन दिखाते हुए स्त्री और पुरुष के मनोविज्ञान और उनके यथार्थ स्वरुप की रुपरेखा का निर्माण किया है। वर्माजी का झुकाव सदैव सामाजिक यथार्थ की ओर रहा है। उच्च मध्यम वर्ग से पूर्ण-रुपेण परिचित होने के फलस्वरुप प्रस्तुत एकांकी में जो यथातथ्य चित्रण सामने आया है वह प्रशंसनीय है। प्रस्तुत एकांकी सामाजिक यथार्थवादी एकांकी है। इसकी कथावस्तु जीवन की यथार्थ समस्या पर आधृत है। प्रमोद सुशिक्षित होते हुए भी एक साधारण आय पाता है, किन्तु उसकी पत्नी उषा फैशन की देवी है। प्रमोद अपनी फैशन परस्त पत्नी की माँगों को पूरा करने में असमर्थ रहता है। आर्थिक विपन्नता ने प्रमोद और उषा के जीवन-रस पर ब्लाटिंग पेपर का एक बडा-सा टुकड़ा रख दिया है। यही उनके झगड़े की बुनियाद है। उषा अपने मित्र अशोक के साथ आनन्द मनाने देहरादून जाने का प्रोग्राम बनाती है। अपने भोले भाले पति की विश्वास-प्रवणता का लाभ उठाकर वह बड़ी आसानी से माँ की बीमारी का बहाना करके हमदर्द 'भाई' अशोक के साथ घर से बाहर निकल सकती है और प्रमोद की गरीबी से बचकर अपनी भोग-लालसा की तृप्ति कर सकती है। जैसा कि अधिकतर देखा जाता है। लेकिन एकांकीकार को ज्ञात है कि यदि उषा मसूरी के रंगीन आकर्षण जाल में फँसकर, घर की

देहरी लाँघकर चल पड़ती है तो उसका जीवन नष्ट हो जाएगा और वर्माजी यह भी जानते हैं कि अशोक, उषा को उसी तरह बर्बाद कर देगा जिस तरह उसने सत्यभामा जैसी अपनी प्रेमिकाओं की जिन्दगी को नष्ट कर दिया है। किन्तु आपने राजेश्वरी के चरित्र की अवतारणा के माध्यम से उषा को पंक में फँसने से बचा लिया है। इस प्रकार डॉ. वर्मा ने राजेश्वरी के द्वारा असंतुलित दाम्पत्य-जीवन से असंटुष्ट उषा को अपने पति प्रमोद की महनीयता का अनुभव कराकर समस्या का आदर्शवादी हल ढूँढ निकाला है।

वर्माजी को मालूम है कि उषा जैसी आधुनिकाओं की जिन्दगी की गाडी चल नहीं पा रही है। लेकिन इस विषय में जो सच्चाई है, उसकी उपेक्षा भी तो नहीं की जा सकती। जीवन-संघर्ष आज इतना कठिन हो गया है और परिस्थितियाँ इस कदर बदल गयी हैं कि आज हर पढी-लिखी लडकी चाहती है कि उसे ऐसा वर मिले, जो शिक्षित होने के साथ ही लक्ष्मी-पात्र भी हो, यह संभव नहीं है। ऐसी दशा में जिन्दगी के साथ समझौता करना ही होगा। अतः आपने प्रस्तुत एकांकी में राजेश्वरी की अवतारणा के माध्यम से समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। डॉ. वर्मा नवीनता के आग्रह के विरोधी नहीं है किन्तु उनको भी विवाह की कुण्डली शर्त व्यर्थ दीखती है। वे जानते हैं कि इस व्यर्थ की बात के कारण कितने लोगों की जिन्दगी खराब हो रही है। विवाह का भाग्याधीन होना भी उनको नहीं जँचता है। भाग्य की जँजीर, जो पुरुष और नारी को दो पेड़ों की तरह सदा-सर्वदा के लिए उलझा देती है, उसे भी आप बहुत पसंद नही करते हैं। वे चाहते हैं कि विवाह का संबंध खूब सोच-विचारकर स्थिर होना चाहिए। शिक्षित समाज में आज बेकारी की जो भयंकर समस्या है, उसका विस्मरण डॉ. वर्मा जैसे समाज सम्पृक्त कलाकार कैसे कर सकता है? प्रमोद और उषा की समस्या आर्थिक विषमता और बेकारी की स्थिति का परिणाम है। जब तक हम अपने आर्थिक ढाँचे को अधिक-से-अधिक न्यायपूर्ण नहीं बना पाते, पति-पत्नी के जीवन में कबाब में हड्डी की तरह तनाव की स्थिति बनी रहेगी- यह सहजसिद्ध है। डॉ. वर्मा का सुझाव है कि जब तक हम अपने आर्थिक ढाँचे को बदल नहीं पाते तब तक दम्पत्ति को किसी-न-किसी प्रकार का समझौता करना ही होगा। "प्रमोद और उषा की सम्बन्ध-समस्या अनेकों के जीवन की समस्या है, जो पूँजीवादी समाज की आर्थिक विषमताओं और बेकारी की स्थिति से उत्पन्न होती है।"[81]

'मकडी का जाला' शीर्षक एकांकी में जगदीशचन्द्र माथुरजी ने अर्थ पिशाच का विकृत रुप अंकित किया है। साथ ही यह दर्शाया है कि किस प्रकार अर्थलोलुपता मनुष्य का जीवन विकृत कर देता है। धन-संचय करते-करते मनुष्य यथार्थवादी जीवन से कोसों दूर होता जाता है। यथार्थता से निरन्तर कटता जा रहा है। कोमलता, भावुकता, सौन्दर्यप्रियता इस तरह की स्वाभाविकता नष्ट होती जा रही है। जीवन वीरान

होते जा रहे हैं। व्यक्ति केवल धन के ढेर में मात्र दबकर रह जाता है। माथुरजी ने प्रस्तुत एकांकी में दर्शाया है कि किस प्रकार सम्पत्ति की ऐषणा में मनुष्य प्रकृत रुप से दिनोंदिन कोसो दूर हो रहा है। अतः निर्देश उचित है। जीवन में आनन्द तिरोहित हो पाए इस हेतु अनिवार्यता इतनी-सी बात की है कि हम धन-संचय में इतना डूब जाएँ कि हमें अन्य कुछ भी होश न रहे। अन्यथा आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति की ऐषणा दलदल है जिसमें से मनुष्य का निकलना दोबारा संभव नही। प्रस्तुत एकाकी 'मकडी का जाला' माथुरजी की प्रायोगिक एकांकी है। इसमें अतीत की घटनाओं को स्वप्न के सहारे दिखाया गया है। साथ ही अर्द्धचेतन मन को बडे ही कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। यह प्रयोगशील मनोवैज्ञानिक एकांकी है, जिसमें माथुरजी ने भोलानाथ के माध्यम से बताया है कि जीवन में उन्नति करने के लिये भले ही मनुष्य अपनी मधुर अनुभूतियों का दमन कर दे, परन्तु बाहर से कठोर रहने पर भी वे रागात्मक मनोभाव उपचेतन में दबे रहते हैं और समय पर अर्द्धचेतन अवस्था या स्वप्न में प्रकट हुआ करते हैं। अतएव इस एकांकी में फ्रायड के उप-चेतनावाद का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें भौतिकवादी जीवन दृष्टि के फलस्वरुप वैयक्तिक प्रेम धन लोलुपता, उन्मुक्त प्रेम आदि की प्रतिष्ठा की गयी है। यह लेखक पर पाश्चात्य बौद्धिकता के प्रभाव की पुष्टि करती है।

'आपस का समझौता' एकांकी में 'अश्क'जी ने डॉक्टरों की बेकारी का चित्र प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत एकांकी एक ओर तो वर्तमान डॉक्टरों की बेकारी का रुप प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर डॉक्टरो की ऐसी वृत्ति सामने आती है जिसके अन्तर्गत वे तनिक व्यक्तिगत लाभ के लिये एक अच्छे भले इन्सान को जो इलाज के लिए आता है उसे थोडे-से अर्थ-लाभ के लिए फायदे के स्थान पर नुकसान पहुँचाने में जरा भी वक्त नहीं लगाते हैं। आज ऐसी डिग्रियाँ भी किसी काम की नहीं रह गई हैं। कठिनाइयों को झेलते हुए जब युवक किसी उच्च डिग्री को पा लेता है तो वहाँ से उसकी जिन्दगी का नया सफर शुरु होता है। वह चाहता है कि अब वह अच्छा कमाएगा और सुख-सुविधापूर्वक अपनी दिनचर्या व्यतीत करेगा। लेकिन जब वह ऐसा कुछ नहीं कर सकता है, बेकारीपूर्वक दिन बितने लगते हैं तो उसके सोचने-विचारने का तरीका ही बदल जाता है। वह तब सभी आदर्शों को ताक पर रखने के लिए मजबूर हो जाता है। केवल स्वार्थसाधना में लिप्त होकर रह जाता है। यहाँ भी एकांकीकार 'अश्क'जी ने 'आपस का समझौता' एकांकी के माध्यम से ऐसी ही बेकारी की समस्या को उठाया है जो पढ़े-लिखे युवकों के लिए आज एक गंभीर समस्या बन गई है। प्रस्तुत एकांकी मे आधुनिक चिकित्सा-विभाग में आये हुए उन तथाकथित चिकित्सकों की कलई खोली गई है जो इतने स्वार्थान्ध हो गए हैं कि स्वास्थ्य रक्षा के बजाय उसे नुकसान पहुँचाते हैं। अतः यहाँ ऐसी कई समस्याओं को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आजकल कई सामान्य व्यक्ति भी डॉक्टर बन जाते हैं जो अपनी मेहनत से नहीं बल्कि रिश्वत से जाली डिग्री बनवाकर डॉक्टर जैसे गौरवान्वित पद पर आरुढ हो जाते हैं। हालाँकि उन्हें इनका

अ..ब...का तो ज्ञान होता नहीं है ऐसे में नए-नए तजुर्बे मरीजों पर करते रहते हैं। इसके खिलाफ प्रशासन को सख्त कदम उठाने चाहिए।

डॉक्टर की डिग्री मिलने के पूर्व उन्हें शपथ लेनी पड़ती है कि मरीज के प्राणों की रक्षा करना उनका पहला कर्तव्य है। उनके लिए उनके मरीज पहले हैं, उसके बाद ही उनका व्यक्तिगत जीवन है। लेकिन पेशेवर डाक्टर ऐसे सभी शपथ को भूल चुके हैं। उनके लिए केवल अर्थ की प्राप्ति, ज्यादा से ज्यादा धन-लाभ ही जीवन का ध्येय बन गया है। बल्कि एक होड़-सी लगी हुई है कि कौन ज्यादा से ज्यादा धन की प्राप्ति, कम से कम समय में कर सकता है। डॉक्टरों को भगवान का दर्जा दिया गया है। रोगी बडी आशा और उम्मीदों के साथ किसी डॉक्टर के पास अपने शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ के लिए जाता है। किन्तु जब ऐसे डॉक्टरों के चंगुल में फँसकर अपने बहुमूल्य आँख, दाँत को ही गँवा बैठेगा तो उन पर से एक प्रकार से एक आम मनुष्य का विश्वास ही उठ जायेगा। लेखक 'अश्क' जी ने व्यक्ति की ऐसी हृदयहीनता के लिए समाज की ध्वस्त आर्थिक-स्थिति को उत्तरदायी ठहराया है। ऐसी अर्थव्यवस्था के जघन्य तथा क्रूर रुप को प्रस्तुत किया है। साथ ही आर्थिक संतुलन की खोज में व्यस्त व्यक्तियों के मानसिक पक्ष का ह्रास, सामाजिक पतन की ओर संकेत करता हुआ विशाल प्रश्न-चिन्ह बन जाता है। डॉक्टरी के पेशे को केवल एक पेशे का दर्जा नहीं देना चाहिए। केवल धन उपार्जन का साधनमात्र नहीं बनके व्यक्तिनिष्ठता से ऊपर उठकर कर्तव्यनिष्ठ बनना ही इस पेशे के प्रति सही वफादारी को निभाना है। 'अश्क'जी ने हास्य-व्यंग्य के माध्यम से ऐसी गंभीर समस्या को प्रस्तुत किया है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति केवल स्वार्थलिप्त होकर व्यक्तिनिष्ठ बनता जा रहा है। उसे दूसरों के हित-अहित से कोई सरोकार नहीं रह गया है। किसी के दुःख में भी वे अपना सुख ढूँढते हैं।

'सेठ लाभचन्द्र' में भट्टजी ने एक सूदखोर कंजूस और धन-लोलुप सेठ की मनोवृत्ति का विश्लेषण व्यंग्यात्मक रुप में प्रस्तुत किया है। इस धन लोलुपता को लेखक ने व्यंग्यात्मक शैली में महादीन पाण्डे के मुख से पर्दाफाश कराके यह प्रतिष्ठित किया है कि धन की लिप्सा ने मानवीय हृदय में जंग लगाकर उसे इतना मैला कर दिया है कि मानवता, दया और त्याग का तो कोई स्थान ही नहीं है। सूदखोर सेठ की स्वार्थपरता और पैशाचिक प्रवृत्ति के माध्यम से आधुनिक परिवेश में परिव्याप्त अमानवीयता पर करारी चोट की है। "मनुष्य इतना नीच है, स्वार्थी है, पतित है कि वह एक पैसे की मदद नहीं कर सकता। सेठ, मेरी स्त्री बिना इलाज के भले ही मर जाये। बिना औषधि के उसके प्राण निकल जाये, लेकिन तुम पाँच सौ की चीज तीन सौ में रखकर ऊपर एक पैसा भी देने को तैयार नहीं। यह हत्या है, दिन दहाडे डाका है। तुम्हें भले ही चकमा देकर लूट लें, पर तुम मानवता, कृपा, दया और धर्म के नाम पर किसी की सहायता नहीं कर सकते।"[82]

'दस हजार' में भट्टजी ने धन-लोलुपता एवं हृदयहीनता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आधुनिक मनुष्य का मानव प्रेम से अधिक सम्पत्ति-प्रेम पर करारा व्यंग्य यहाँ प्रस्तुत है। सेठ की दृष्टि में अपने पुत्र से अधिक महत्व दस हजार रुपये का है। जब मुनीम सेठ विसाखाराम से दस हजार रुपये का प्रबंध कर लडके को छुडाने का आग्रह करता है तो सेठजी का सम्वाद यह प्रदर्शित करता है कि पैसे में कितना अहंकार तथा दंभ होता है - "आने रुपये का सूद है मुनीमजी। (डपटकर) अपने घर से निकालो तो मालूम हो, गाढे पसीने की कमाई है। दस हजार यों ही नहीं आ जायेंगे।"[83]

'वापसी' एकांकी में भट्टजी ने आधुनिक युग में मानव-जीवन के बदले हुए जीवन-दृष्टिकोण को उजागर किया है। आज धन की महत्ता सर्वोपरि हो गई है। धन-प्राप्ति की लालसा में मनुष्य अंधा होकर आपसी रिश्ते, भाई-चारा और कर्त्तव्यबोध से च्यूत हो जाता है। 'आज का आदमी' में आपने पूँजीपतियों की कथनी और करनी में अंतर को चित्रित किया है। धनवान समाज-सुधारक के रुप में बड़ी-बड़ी बातें करता है। उसमें उसका स्वार्थ निहित रहता है। अपने भौतिक सुख के लिए मिथ्याडंबर का ढोंग रचता है। 'नई बात' एकांकी में आज के सामाजिक जीवन में कवि की स्थिति एवं अर्थ-प्रधान, प्रदर्शनप्रिय सभ्यता पर कटु आलोचना है। आधुनिक युग में व्यक्ति का सम्मान केवल उसकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर है, उसकी सांस्कृतिक एवं बौद्धिक योग्यता पर नहीं। एकांकी में भट्टजी का लक्ष्य घौर भौतिक सांसारिकता पर मानववाद की विजय कर कवि-जीवन की महत्ता चित्रित करना है। आधुनिक युग में मिथ्याडंबर पर तीखा व्यंग्य है, आज का मानव पूँजी के मद में सांस्कृतिक एवं बौद्धिक मूल्यों को नगण्य समझने लगा है। इसी पतन की ओर लेखक का संकेत है।

प्रस्तुत एकांकी में हमारे समाज की दुषित व्यवस्था चित्रित की गई है। कुछ राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की पोल खोल दी गई है। सर्वोदय समाज, देशभक्ति, स्वदेशी प्रचारों में वास्तविकता का अभाव है। पूँजीपति सेठ के ये वचन कटु सत्य और व्यंग्य से परिपूर्ण हैं - 'ये कॉग्रेस के लोग। मेरे समान ही स्वार्थी और अर्थलोलुप। इनके भी वैसे ही ठाठ हैं - मकान, मोटर, नौकर-चाकर और फिर मजा यह कि काम कुछ भी नहीं करते, व्यापार कुछ भी नहीं करते, तो क्या रुपया आकाश के फट पडता है ... मैं आज ही खद्दर खरीदकर कपडे बनवा लूँगा... पहनने होंगे। यही युग के समय का तकाजा है .. सारा मामला इन क्लर्को के हाथों में ही होता है।अफसर तो सरकार की प्रेस्टीज प्रकाश का बल्ब है, जो अपनी पावर के अनुसार चमकता है। कोई पाँच का, कोई दस का, कोई पच्चीस का।... लोग कहते है कि हम लोक ब्लेक मार्केट करते हैं ... .. गरीबों का खून

चूसकर मोटे हुये हैं। कितनी गलत बात है.... क्या हमने गरीबी पैदा की है – जिसमें योग्यता हो वह आये... ।" प्रस्तुत एकांकी में सामाजिक व्यंग्य है। धर्म और समाज-सेवा के ढोंग एवं छल-कपट, रिश्वत का यथार्थ चित्रण है। नैतिकता के अनेक क्रूर पहलूओं की स्वाभाबिक अभिव्यक्ति प्रस्तुत एकांकी में अंकित की गई है। भट्ट जी का यहाँ मुख्य प्रतिपाद्य यह दिखाना है कि हमारे जीवन में पर्दे की आड में क्या व्यापार चलता है, हमारे आदर्शवाद के पीछे कितनी बड़ी आत्मप्रवंचना है।

'पर्दे के पीछे' एकांकी में हमारे समाज की दूषित व्यवस्था चित्रित की गई है। एकांकी में बडे-बडे पूँजीपति इनकमटैक्स बचाने के लिए क्या-क्या काम करते हैं इसका चित्रण किया गया है? सेठ छीतरमल सजातीय सेठों की तरह इनकमटैक्स वालों को धोखा देने के लिए अपनी बहियाँ बदलवाता है, समाचार-पत्रों में अपने दान-पूण्यों की प्रशस्तियाँ छपवाने के लिए परिन्दों का अस्पताल खुलवाता है और कॉग्रेसी नेताओं को चदे की भारी पूँजी देकर पुलिस और कानून की पकड़ से मुक्ति पा दरिद्रों का निर्ममता से शोषण करता है, चोरबाजार चलाता है और न मालूम क्या-क्या कर्म करता है, जिससे उसकी तिजोरी में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर मध्यवर्ग और निम्नवर्ग पिसता जा रहा है- महँगाई, गरीबी और शोषण से व्यथित है। मध्यवर्ग को नवीन ढंग से लूटना ही धर्म रह गया है।

चिरंजीत जी की एकांकी 'अखबारी विज्ञापन' में परिवार की आर्थिक कठिनाइयों का चित्रण है। मदन मोहन 'विज्जामल-गिज्जामल' नामक एक प्राइवेट फार्म का फटियल टाइपिस्ट है। वह नेशनल-पत्रिका में एक विज्ञापन देते हैं किसी अच्छी नौकरी को पाने के उद्देश्य से। किन्तु भूल से पोस्ट बाक्स गलत लिखा जाता है और फलस्वरुप विवाह योग्य लडकियों के चित्रों और उनके अभिभावकों के पत्र आने लगते हैं। उनकी पत्नी दुर्गा का विचार है कि पति चोरी-चोरी विवाह रचा रहे हैं। अंत में अखबार का मैनेजर जाकर इस भ्रम का निवारण करता है। टाइपिस्ट ने पोस्ट बॉक्स 3111 के स्थान पर 311 टाइप कर दिया था। इसलिए यह गडबड हुई। चिरंजीत जी ने 'खजाने का सॉप' में धनिकों की कंजूस-वृत्ति पर व्यंग्य किया है। ऐसे धनिकों को जो जीते-जी अपने धन की साँप के समान रक्षा करते हैं और न स्वयं उपभोग करते हैं और न किसी और को ही करने देते हैं, 'खजाने का साँप' कहा गया है। श्रीकान्त पढा-लिखा युवक है। एक धनी सेठ की एकमात्र पुत्री कमला से उसका विवाह हो जाता है। धनी ससुर घरजमाई का बात-बात में अनादर करता है। श्रीकान्त घर छोडकर चला जाता है। कबाडी की दुकान से वह एक पुस्तक क्रय करता है, जिसमें लिखा है कि दिल्ली से सात-आठ मील की दूरी पर एक जंगल में बावडी है, उसमे धन का खजाना है। एक सांप उसकी रक्षा कर रहा है। श्रीकान्त भीखू नौकर के साथ जंगल मे जाता है और एक सपेरे से रात के अंधेरे में

बीन बजाकर सांप को बाहर निकाल देने को कहता है। कुछ समय पश्चात् पत्नी कमला भी वहाँ आती है। जब सांप नहीं निकलता और बीनवाला अपनी मजदूरी के पैसे माँगता है तो श्रीकान्त बडा निराश हो जाता है। कमला उस पुस्तक को देखती है तो पता चलता है कि वह कोई ऐतिहासिक प्रामाणिक ग्रंथ नहीं, वरन् उपन्यास है। श्रीकान्त हताश हो जाता है। इसी समय सूचना मिलती है कि बूढे सेठ को दिल का दौरा पडने से अचानक हार्टफेल हो गया। कमला पिता की मृत्यु पर रोती है। पर श्रीकान्त बहुत प्रसन्न होता है, और सोचता है खजाने का सॉप चला गया। अतः यहाँ लेखक ने धन लोलुपता के साथ हृदयहीनता का चित्र प्रस्तुत किया है। आज आपसी सम्बन्धों में धन-ऐश्वर्य को लेकर कटुता आ गई है। धन की महत्ता सर्वोपरि हो गई है। यह स्थिति विचारणीय विषय है।

'वाणी मंदिर' एकांकी में हरिकृष्ण प्रेमीजी ने तीन परिवारों की कथा को लेकर कई छोटी-बडी समस्याओं को प्रस्तुत किया है। कवि कुमार वाणी मंदिर का सम्राट होकर भी घर में दारिद्रय के नग्न स्वरुप को प्रत्यक्ष देखता है। उसके घर की स्थिति यह है कि अन्न का एक दाना नहीं, पास में एक पैसा नदारद है और भूखी नन्ही दूध के लिए आकुल तड़प रही है। पति-परायण पत्नी और उस छोटी-सी उम्र में ही इतनी समझदार उसकी गुड़िया-सी बेटी ऐसी दुर्घटनाओं के प्रति अभ्यस्त हो गयी हैं। भूखे पेट सो जाने पर भी अपने भाग्य को ये कोसती नहीं। पति के यश को ही अपने जीवन की चरितार्थता मानने वाली पत्नी सरला ने कवि की पुस्तक़ों के छपवाने के लिए अपना एक-एक ज़ेवर बेच दिया"[84] इस साध्वी की बडी समस्या है - उसका रुप, अनिंद्य सौन्दर्य, जिसकी ओर संसार की लोलुप ऑखे उठ-उठकर आती हैं और उसे निगल जाना चाहती हैं। गरीब की पत्नी जो वह है। कुमार उन लोगों में है, जो अपने अभावों को दुनिया के सामने नहीं रखते। मालती के शब्दो में 'वे जलते रहते हैं दीपक की तरह नीरव रहकर और संसार को प्रकाश देते हैं।' कवि कुमार की पत्नी अनुभव करती है कि ऐसे हुतात्मा पर गृहस्थी का बोझ लादना ही निष्ठुरता है और वह आत्मघात करती है।[85] वाणी मंदिर की समस्या यह है कि संसार कवि को पाकर धन्य तो होता है किन्तु वह यह नहीं जानता कि कवि का पेट भी होता है। उसके बीवी-बच्चे होते है। उचित तो यह है कि जो रात-दिन अपने प्राणों का खून पिलाकर संसार को जीवन देता है, उसके जीवन की रक्षा का दायित्व समाज ग्रहण करे।

एक ओर तो एकांकीकार ने दरिद्रता में भी आदर्श की मर्यादा रखने के लिए ऐसा सुंदर चित्रण किया है और दूसरी ओर दरिद्रता में आत्मा के पतन को दिखाकर पाप के समक्ष पुण्य को और भी निखार दिया है। 'आनंद' मासिक पत्रिका के संपादक श्री चन्द्रप्रकाश वर्मा धन को ही सब कुछ समझ अपनी पत्नी को भी उसी मार्ग में ढालना चाहते हैं। अमीर सेठों के साथ अपनी सुंदर पत्नी मालती को ले जाना और उन्हे अपनी ओर

आकर्षित करने का आदेश देकर धन कमाना ही उसका उद्देश्य है। परन्तु मालती इस पर आपत्ति करती है लेकिन जो वह न जाए तो पति के हाथों हंटर की मार खाये। इस प्रकार रुपयों की भूख वर्माजी को साक्षात् पशु बनाती है। मालती ने ठीक ही कहा है कि वह नामर्द है। लेकिन इस पर भी मालती उसे छोड नहीं सकती। भारतीय नारी के सनातन संस्कार की परंपरा जो वह दे रही है। लेकिन वहीं चंद्रिका भी है, जो मालती की तरह पुरुष के हाथों खिलौना नहीं बन सकती है। यह जानती है कि पुरुष अपना स्वभाव नही छोड़ सकता है। वह पर्वत है और कठोरता ही उसका स्वाभाविक धर्म है। वह अपनी सखी मालती से कहती है - "पुरुष भी तो अकेले जीवन बिता देते हैं, वे पुरुषों में हँसखेल कर अपना जी बहला लेते हैं ऐसा क्या हम स्त्रियॉ नहीं कर सकतीं?"[86] चंद्रिका व्यवहार कुशल एक धनी लड़की है और उस धरातल पर रहती है जहाँ वासना की पहुँच नहीं। मालती के द्वारा कुमार के दारिद्र्य को सुनकर वह अपने धन को परोपकार में लगाना चाहती है। ये दोनों उसी समय कुमार के घर पहुँचती हैं जबकि सरला विषपान कर चुकी है। सरला के पत्रों द्वारा उन्हें घनश्याम की नीचता और विषपान का कारण मालूम होता है। चंद्रिका की सहायता से कुमार अपनी पत्नी को स्वस्थ कर पाता है।

'पृथ्वी का स्वर्ग' में डॉ. रामकुमार वर्मा जी ने एक परंपरावादी धन-लोलुप व्यक्ति का चित्र खीचा है। डॉ. वर्मा जीने सरल मनोरंजन के साथअपने उद्देश्य की पूर्ति की है। अचल एक चित्रकार है जो 'पृथ्वी का स्वर्ग' शीर्षक एक चित्र बनाना चाहता है। परन्तु इसके उपयुक्त उसे कोई विचार ही नहीं मिलता। अचल का चाचा सेठ दुलीचन्द एक कंजूस व्यक्ति है। वह एक हरे दुशाले में पाँच हजार रुपये छिपाकर रख देता है। उसी हरे दुशाले को अचल एक निर्धन भिखारिन को दे देता है, जिसका बच्चा ठण्ड से ठिठुर रहा था। अचल को दुशाले के बीच रखे गये रुपयों का कुछ भी पता न था। जब चाचा को यह ज्ञात होता है तो वह चिल्ला-चिल्लाकर सारा घर सर पर उठा लेता है। इसी समय वह भिखारिन स्वयं रुपयों को देने चली आती है। अचल कहता है - 'पृथ्वी का स्वर्ग' यही है केशव। इस भिखारिन में जो अपने-आप रुपये देने चली आई यही 'पृथ्वी का स्वर्ग' है। यही 'पृथ्वी का स्वर्ग' है जो कागज पर खिंच नहीं सकता। सच्चाई और पाप से घृणा.. यही तो स्वर्ग है। चाचाजी की धन-लोलुपता प्रदर्शित की गई है। वह चार आने पैसों के लिए कुली से झगडा करता है। सेठ दुलीचन्द केवल अपने स्वार्थ में ही अन्धा रहता है। दुलीचन्द के मुख से बढती हुई महँगाई की ओर भी संकेत किया है। वे कहते हैं –' . .... आजकल गरम कपडे की कीमत! शिव-शिव! अरे पहले जितने मे एक अच्छी गाय मिलती थी, गाय न? उतने रुपयों में उसकी पूंछ बराबर कपडा....!"

'आशीर्वाद' में वर्माजी ने एक मध्यम वर्ग के पति-पत्नी का चित्रण किया है जो लाटरी का इनाम पाने

के लिए उत्सुक हैं। आधुनिक वैभव-कामना के प्रति इसमें तीखा व्यंग्य किया गया है। राजेश लाटरी के परिणाम की प्रतीक्षा में दफ्तर भी नहीं जाता। पत्नी सरोज और पति राजेश दोनों उत्सुकता से 'तार' आने की प्रतीक्षा करते हैं। इसी बीच किसी का तार आता है, दोनों उसे उत्सुकता से पढते हैं। तार में लिखा है कि मिस्टर मुसद्दीलाल का ट्रान्सफर हो गया। दोनों पति-पत्नी बड़े ही निराश होते हैं। फिर वे दूसरे तार की प्रतीक्षा करने लगते हैं कि पोस्टमैन आकर एक पत्र दे जाता है। पत्र बम्बई से लाटरी-विभाग की ओर से आया है, उसे खोलकर पढते हैं, उसमें लिखा होता है कि पंजाब साम्प्रदायिक आग से झुलस कर नष्ट हो गया है। लाटरी के लिए एकत्रित रुपया पंजाब के शरणार्थियों की सहायता के लिए भेज दिया गया है। दोनों कुछ क्षण मौन रहते हैं, फिर वे सोचते हैं, पॉच लाख न मिला तो क्या, पाँच लाभ आशीर्वाद तो मिलेंगे। प्रस्तुत एकांकी के द्वारा वर्माजी ने आज के युवकों पर व्यंग्य किया है। वे जल्द से जल्द धनवान बन जाना चाहते हैं। उसके लिए कुछ भी करने को उद्यत रहते हैं। यह अत्यन्त सोचनीय विषय है।

वर्तमान अर्थ युग की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि नारी की आर्थिक स्वावलम्बिता का प्रादुर्भाव भी है। आज की नारी आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा रहना पसन्द करती है। आज तक पुरुषों द्वारा नारी पर मनमाने अत्याचार करने का मूल कारण नारी का आर्थिक दृष्टि से पुरुषों पर आश्रित रहना ही माना जा सकता है। आज नारी पुरुष से आर्थिक स्वावलम्बन की माँग करती है। प्रसन्नता की बात है कि परम्परावादी विचारों के लोग भी आज स्त्री-शिक्षा का समर्थन करते हुए पाये जाते हैं। आर्थिक विवशता के कारण ही आज तक नारी पुरुष की चेरी बनी रही है। पुरुष ने अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखते हुए ही आज तक स्त्री-शिक्षा का विरोध किया था। किन्तु पुरुष की इस चाल को आधुनिक नारी पूर्ण रुप से समझ चुकी है।

मनुष्य के जीवन की सर्वप्रथम समस्या आर्थिक ही है। आज भी हमारे देश की आधी जनसंख्या भरपेट भोजन प्राप्त नहीं कर सकती। देश में एक ओर बड़े-बडे धनाधीश भोग-विलास तथा ऐश्वर्य में पानी की तरह धन बहा रहे हैं। तो दूसरी ओर दाने-दाने को मोहताज मजदूरों और किसानों का कष्टमय जीवन है। "जिस देश में सिर्फ दशमलव चार प्रतिशत लोग धनी हों, शेष सब गरीब हों, जिस समाज के दो प्रतिशत आदमी सुख और विलास के स्वर्ग में रहने वाले हों, शेष नंगे और भूखे हों, वह देश नरक से भी बदतर है।" अतः मजदूरों किसानों की दयनीयता और निम्न आर्थिक स्थिति तथा पूँजीपतियों द्वारा उनके शोषण को लेकर भी अनेक एकांकीकारों ने अपनी एकांकियों में चित्रण किया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क'जी ने 'देवताओं की छाया में' शोषित मजदूर वर्ग की दयनीय स्थिति का चित्रण प्रस्तुत करके समाज की आर्थिक विषमता की ओर संकेत किया है। प्रस्तुत एकांकी में युवक सादिक पहले किसान से दुकानदार फिर दुकानदार से मजदूर बन

जाता है और पूँजीवादी व्यवस्था की भेंट चढ़ जाता है। यहाँ 'अश्क'जी ने पूँजीवादी व्यवस्था पर कुठाराघात किया है जिसके अन्तर्गत शोषक और शोषित के मध्य एक बड़ा अंतराल होता है। पूँजीपतियों को सामान्यजन अर्थात् मजदूर या निम्नवर्ग की जान-माल की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती वे केवल अपने स्वार्थ साधना की आपूर्ति में संलग्न रहते हैं। इस तरह प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से 'अश्क'जी पूँजीवाद के प्रति अपना गहरा रोष प्रकट करते हैं और पूँजीवादी व्यवस्था पर व्यंग्यात्मक शैली में यह प्रतिपादित किया है कि शोषित ग्रामीण जनता का जीवन पूँजीवादी देवताओं की छाया में पलता है। एकांकी निम्न वर्ग की नारी के जीवन की उस सात्विकता के भी दर्शन कराता है, जो अपनी सीमाओ में घुटने और तड़पने के बावजूद भी पति-परायणा में अपूर्व है परन्तु प्रस्तुत एकांकी मुख्यतः वर्ग वैषम्य की चट्टान पर ही चोट कर रहा है, जहाँ आजीविका उपार्जन हेतु कार्यरत मजदूर अपने प्राणों की बलि चढ जाता है। प्रस्तुत एकांकी की चोट मुख्यतया शोषक और शोषित दोनो की ओर है। अतः प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से एकांकीकार 'अश्क'जी यह बताते हैं कि यदि ऐसी ही व्यवस्था रही तो भारत के सभी किसान धीरे-धीरे मजदूर बन जायेंगे जो कि खतरनाक सिद्ध होगा। आर्थिक, सामाजिक ढाँचे में बड़ा परिवर्तन आ जाएगा। अतः ऐसी व्यवस्था में सुधार अत्यावश्यक है। कुशल आर्थिक व्यवस्था से ही स्वस्थ समाज की नींव रखी जा सकती है।

'व्यवहार' एकांकी में सेठ गोविन्ददासजी ने किसान जमींदार के संघर्ष को अपने विचार के लिए उठाया है। एकांकी में किसानों और जमींदारों के सम्बन्धों में अलगाव की नीति को प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत एकांकी में रघुराजसिंह ऐसा जमींदार है, जिसके हृदय में किसानों के प्रति सच्ची सहानुभूति दिखती है। वह किसानों के साथ मिलकर रहना चाहता है। गद्दी पर बैठते ही रघुराजसिंह ने किसानों के पक्ष में उनके सारे कर्ज माफ कर दिये, लगान भी घटा दिया और इसके साथ ही उनसे बिना नजराना लिये हुये, उनके नाम जमीन भी करवाई। काफी समय से उसके विरासत में यह नियम चला आ रहा था कि विवाह आदि के अवसर पर प्रमुख किसानों को निमंत्रित किया जाता था और उनसे नजराने की रकम भी वसूल की जाती थी। लेकिन रघुराजसिंह की बहन की शादी पर रघुराजसिंह ने नियम में परिवर्तन कर दिया और उसने सभी को निमंत्रित किया और नजराना भी किसी तरह का न वसूलने का निर्णय लिया। रघुराजसिंह की इस प्रकार की उदारतापूर्ण कृत्य का कोई विश्वास ही नहीं कर पाता है। ऊपर से किसानों का नेता क्रांतिचन्द था, वह रघुराज का घोर विरोध करने लगता है कि- उसका कहना था कि भक्ष्य और भक्षक का सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता है। वह सभी को यह कहकर अपने पक्ष में कर लेता है कि रघुराज के पूर्वजों ने तो केवल सम्पन्न किसानों को ही ऐसे अवसर पर बुलाया किन्तु रघुराजसिंह ने तो उनके कितने कदम आगे बढकर सभी को बुलाया ताकि उसे हरएक से नजराना वसूलने का अवसर मिल पाए। यद्यपि नेता क्रांतिचन्द्र के इस कथ्य में कोई सच्चाई नहीं

है फिर भी सभी उसकी बातों पर ही विश्वास करते हैं। यह सभी कुछ इसलिए हुआ क्योंकि किसानों में वर्ग-संघर्ष की भावना व्याप्त हो गई है। ऐसे में रघुराजसिंह जैसे जमींदार पर कैसे विश्वास किया जा सकता है क्योंकि आज तक तो उन्होंने ऐसे जमींदार और उसके ऐसे उदारतापूर्ण कार्य को नहीं देखा था। उनको भला कैसे अविश्वास न हो किसान-जमींदार का तो सदा से संघर्ष रहा है। चिरकाल से ही जमींदार किसानों का रवैया जमींदार रघुराज के पक्षधर कैसे हो सकता है, यह नामुमकिन प्रतीत होता है। इसलिए तो प्रत्येक किसान को रघुराज के उदारतापूर्ण कार्यों में भी कोई षड्यंत्र, कोई चालबाजी दृष्टिगत होती है और चाहकर भी कोई रघुराजसिंह जैसा जमींदार नहीं बन पाता है। वर्ग-संघर्ष इतना घोर रुप धारण कर चुकी है। दूरियाँ इतनी ज्यादा हो गई हैं कि सह-अस्तित्व के सारे प्रयास विफल हो रहे हैं।

'फाँसी' एकांकी सेठ गोविन्ददास जी की पूँजीपतियों और मजदूरों के संघर्ष को लेकर रचित है। प्रस्तुत एकांकी में एक पूँजीपति है, जिसने अपनी मिल में हड़ताल करने वाले एक हड़ताली मजदूर की हत्या कर दी है। अतः दण्डस्वरुप उसे फाँसी की सजा हो जाती है। एक अन्य पात्र मजदूर है। वह यह मानता है कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत बहुत से लोगों को तो दुःख ही मिलते हैं। केवल एक छोटे से वर्ग को ही सुख प्राप्त होता है। इसलिए उसके विरुद्ध खडा होना मनुष्य का धर्म है। यह सब सोचकर वह एक पूँजीपति की हत्या कर देता है और खुशी-खुशी फाँसी पर चढ़ जाने के लिए तैयार बैठा है। पूँजीपति की सोच है कि पैसे से दुनिया में सभी कुछ आसानी से खरीदा जा सकता है। उसे अपने कृतित्व पर तनिक भी पश्चाताप नहीं था। उसकी मान्यता थी कि उसने एक अदना से, तुच्छ से मजदूर की ही तो जान ली है। वो ऐसे मजदूरों की तुलना कीड़े-मकौड़ों जैसा करता है उसकी दृष्टि में उनकी जान की कोई कीमत नहीं है। मजदूर को अपनी फॉसी लगने से थोडा-सा भी रंज नहीं दिखाई देता है। वह यह मानता है कि उसने जो कुछ भी किया है वह बिलकुल सही किया है। बल्कि उसे भगवान् से एक शिकायत भी रहती है कि काश और इस तरह के पूँजीपति उसके हाथों मारे जाते किन्तु ईश्वर ने उसे यह मौका नहीं दिया है। अतः सेठजी ने दोनो के माध्यम से एक गंभीर समस्या की उपस्थिति की है किन्तु इसके समाधान के लिए वे हम पर छोड़ देते हैं। ताकि हम स्वयं इसका हल खोजें और यह अत्यंत आवश्यक भी है।

मजदूर, किसान और पूंजीपति संघर्ष को अन्य अनेक एकांकीकारों ने चित्रित किया है। श्री धर्म प्रकाश आनन्द का 'दीनू' मजदूरों की गिरी हुई आर्थिक स्थिति, दयनीय अवस्था, पूँजी के असमान वितरण पर एक व्यंग्य है। श्री रामचन्द्र तिवारी की 'बंदिनी' गरीबी की भयंकरता का व नग्नता का एक चित्र उपस्थित करता है। इसमे आधुनिक औद्योगिक युग की असमान अर्थ वितरण समस्या तथा उससे उत्पन्न होने वाली

विभीषिकाओं पर प्रकाश डाला गया है। श्री रामशर्मा राम का सम्पूर्ण नाट्य साहित्य पूँजीवाद के विरोध में लिखा गया है। आपके 'मसले हुए आंसू', 'टूकड़े', 'धर्म अधर्म', 'नाते रिश्ते' भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से पूँजीवाद के विरोध में जनमत और साम्यवाद के आदर्श उपस्थित करते हैं। श्री हरिश्चन्द्र चट्टोपाध्याय का 'संतरी की लालटेन' (1938) एक मजदूर, कवि तथा सौदागर की मृत्यु से पूर्व भावनायें उपस्थित करता है। श्री राजेन्द्र सक्सेना का 'दिमाग की गर्मी' ठेकेदारों तथा पुलिस का गठबंधन तथा मजदूरों की नैतिकता पर आक्रमण का एक प्रभावशाली चित्र है। श्रीमती शचीशनी गुर्टू का 'हरिया' होटलों में बालक नौकरों पर मैनेजरों द्वारा होने वाले अत्याचारों का एक यथार्थवादी चित्र है। श्री शर्मा का 'इन्कलाब जिन्दाबाद' (1939) मजदूरों में जागृति, वेतन वृद्धि के लिए पुकार, मँहगाई तथा हडतालों का चित्र है। इसके अनुसार आज का मजदूर अपने अधिकारों के लिए मर मिटने पर तुला हुआ है। वह राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में अपने अधिकार चाहता है। श्री रामचरण महेन्द्र का 'कलम का मजदूर' बैंकों के मैनेजरो द्वारा मातहत क्लर्को पर किये गये अत्याचारों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। बघेल लिखित 'दान' और 'स्वर्गलोक' (1943) भारत में अकाल का एक चित्र प्रस्तुत करते हैं, जिनमें अनावृष्टि तथा सरकार द्वारा शोषित कृषकों, उनके दूध के बिना मरने वाले बालकों के चित्र हैं। श्री वीरेन्द्रनारायण का 'जिन्दगी' (1951) में ग्रामों से मेहनत करने आने वाले मजदूरों की स्त्रियों के सतीत्व के अपहरण का चित्रण है। इसमें पुलिस के दुर्व्यवहार पर भी व्यंग्य किया गया है।

श्री विष्णु प्रभाकर जी का 'मजदूर' रेडियो रूपक मालिक तथा मजदूर के सम्बन्धों की सर्वांगपूर्ण समस्याओं को स्पर्श करता है। इसमें मालिक मजदूर दोनों की समन्वयात्मक भावना को उभारा गया है। 'रहमान का बेटा' में निम्न वर्ग का उच्च वर्ग के प्रति विद्रोह चित्रित किया गया है। 'श्वेत अंधकार' में रिश्वत लेने वाले अफसरों का भंडाफोड किया गया है। श्री धर्मवीर भारती का 'आवाज का नीलाम' पत्रकार जगत् में फैली हुई पूँजीवादी राजनीति से सम्बंधित है। इसमें एक श्रमजीवी सम्पादक का वैयक्तिक कठिनाइयों, गरीबी, पत्नी की बीमारी से तंग आकर अपना पत्र 'आवाज' एक सेठ को बेचने का चित्र है। रुपये के बल पर पूँजीपति जनता को गुमराह करने के लिए अखबार खरीदते हैं, आकर्षक चीजें छापकर वास्तविकता से दूर रखते हैं और जनता का स्वर ऊँचा नहीं उठने देते। यही चित्रित किया गया है। श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा मानते हैं कि "आज की आर्थिक विषमता ने हमें देहधर्मी बना दिया है। यद्यपि संस्कारतः हम मनोधर्मी रहे हैं। सभ्यता के विकास ने मनुष्यके जीवन को कृत्रिम बना दिया है तथा मनुष्य मनुष्य के मध्य अलंघ्य दीवारें खडी कर दी हैं। प्राचीन और नवीन का सहज सामंजस्य अपेक्षित है।"[87]

'चंपक' शीर्षक एकांकी में डॉ. रामकुमार वर्माजी ने हमारी अर्थव्यवस्था की ओर इंगित किया है। वर्माजी ने आर्थिक ढाँचे के असंतुलन को यहाँ अभिव्यक्त किया है। हमारी अर्थव्यवस्था का कोई निश्चित मापदण्ड ही नहीं है। अनुचित अव्यवस्था के कारण वह पंगु हो गई है। इस प्रकार सामाजिक ढाँचे के प्रति अपना असंतोष व्यक्त किया है और प्रस्तुत एकांकी की उद्भावना करके एकांकीकार वर्मा जी ने हमारी डगमगाती अर्थव्यवस्था के प्रति ध्यान आकर्षित किया है। जहाँ व्यक्ति रोटी-रोटी के लिए तरसता है। वहीं दूसरी ओर धनी लोगों द्वारा कुत्ते-बिल्लियों को पाला जाता है और उनकी देखभाल पर अनगिनत रुपये खर्च किये जाते हैं। यह सभी उन व्यक्तियों को अनाचार ही लगेगा और कुत्ते अथवा उन सभी जानवरों के प्रति उनके मन में द्वेषभाव उदित हो जाएगा। ऐसी स्थिति अहितकर है। हमें अपनी अर्थव्यवस्था को सुधारने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। पूँजी का समुचित वितरण होना चाहिए। सरकार को स्थिति की गंभीरता को समझना चाहिए और आर्थिक ढाँचे में आवश्यक सुधारों में तत्परता से जुट जाना चाहिए। अन्यथा यह समस्या दिनों-दिन अपना विकराल रुप धारण करती जाएगी। इतनी गंभीर समस्या को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। प्रस्तुत एकांकी में समाज के आधुनिक ढाँचे का यथातथ्य चित्रण हुआ है, जिसमें 'पेट की भूख' मानव को हिंसा पर उतार देती है। और फिर, जब विवश मानव कुछ करने में असहाय होता है तो वह मजबूरन कुत्ते-बिल्ली आदि जीवों को निरपराध सताता है। भिखारी की मानसिक स्थिति कुछ ऐसी ही है, जो भूख से व्याकूल होकर तथा कुत्ते को भरपेट खाते देखकर उसके मस्तिष्क में एक मनोग्रंथि स्थान ले लेती है। परिणामस्वरुप वह मानवीय दयनीय स्थिति पर क्रोधित होकर कुत्ते को चोट पहुँचाता है। यह मानवीय यथार्थता पर सटीक व्यंग्य है कि आधुनिक समाज में अमीरों के कुत्ते तो भरपेट भोजन करते हैं और बेचारा मानव उन्हें देखकर अपनी दावानल अर्थात् पेट की आग से उत्तरोत्तर झुलसता रहता है, जलता नहीं, जो उसके क्रोध के रुप में बाहरी रुप धारण करता है।

अतैव इस यथार्थवादी एकांकी में एक ऐसे सामाजिक का अंकन किया गया है जो किसी न किसी सामाजिक समस्या के उद्घाटन में सहायक सिद्ध होता है। किशोर के चरित्र-चित्रण के माध्यम से ऐसे ही उदार, सहृदय, भावुक एवं संवेदनशील युवक का चित्रण किया गया है। वह संसार के प्रत्येक दुःखी एवं पीड़ित प्राणी की सेवा एवं सहायता करना अपना कर्तव्य समझता है। साथ ही अपराधी को भी यह जान लेने पर भी, उसकी सेवा-सुश्रुषा से मुख नही मोडता। फलतः समाज में परिव्याप्त विपन्नताओं का निरुपण कर लेखक ने समाज को स्वस्थ, पुनीत एवं शुद्धाचरण बनाने की कामना की है।

अतिथि द्वारा उत्पन्न समस्या : एक युग मे अर्थात पौराणिक युग में जब 'अतिथि देवो भव' कहकर आगन्तुक

का स्वागत कियाजाता था । परन्तु आज स्थिति काफी बदल गई है । इस बदले हुये समय में जब मनुष्य को अनेक आर्थिक कठिनाईयाँ तथा अन्य कितनी प्रकार की समस्यायें हैं । ऐसे में अनचाहे मेहमानों से होने वाली परेशानियों को एकांकीकारों ने अपनी एकांकियों में हास्य और व्यंग्य युक्त बनाकर हमारे समक्ष इसे बडी सफाई के साथ प्रस्तुत किया है । इस समस्या को इंगित करते हुये - श्री उदयशंकर भट्टजीने 'नये मेहमान' में व्यर्थ ही अतिथि बन जाने वाले व्यक्तियों पर अच्छा खासा व्यंग्य है । एकांकी की कथा व्यक्ति के अपने तथा पराए भाव पर भी प्रकाश डालती है । मानव अनेक कठिनाईयों के विद्यमान होने पर भी, जिसे अपना समझता है उसके लिये सहर्ष सर्वस्व देने को उद्यत रहता है । इसके अतिरिक्त वर्तमान समयमें बढती हुई मँहगाई के कारण मध्यमवर्ग के निर्वाह की समस्या पर प्रकाश डालती है । इसी प्रकार पृथ्वीनाथ शर्मा के एकांकी 'युक्ति' तथा चिरंजीत के एकांकी 'मेहमान ' में ऐसी सक्रिय स्थितियों का अंकन है । इसी प्रकार देवराज दिनेश के 'बुरे फंसे मेहमान बनकर ' में अतिथि की दुर्गति का चित्र प्रस्तुत किया गया है। श्री प्रभाकर माचवे कृत 'मकान मेहमान ' में भी ऐसी समस्या को ही उठाया गया है।

एकांकियों में विवेचित राजनैतिक समस्याएँ :

15 अगस्त, 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ और तीन साल बाद जनतांत्रिक आधुनिक राजनीतिक प्रणाली को मान्यता देकर देश का शासन जनता के हाथ में आया । निरक्षर ग्रामीण मतदारों को अपने हाथ में कौन से महत्वपूर्ण अधिकारी प्राप्त हुए है - इसकी जानकारी देने के पहले राजनीतिक पक्ष उन्हें अपने फायदेके लिए उपयोग में लाने लगे । 26 जनवरी, 1950 तक देश का संविधान बना। इस प्रक्रिया में 'राजनीति' सामान्य जन साधारण के लिए महत्वपूर्ण विषय बनी । ग्राम पंचायत, जिला बोर्ड, तथा अन्य सहकारी संस्थाओं में चुनाव की राजनीति पनपने लगी । भारत में धर्म तथा जाति भेद समाज को इस बुरी तरह से जकडे हुये है । राजनीतिक दलों ने उसका बड़ी ही चतुराई से फायदा उठाना शुरु किया देश में समता और सम्पन्नता के बदले गरीबी, बेकारी, शहरी यांत्रिकता, टूटते हुए परिवारों की समस्यायें राजनीति गॉव-गाँव घर-घर तक पहुँच गई । इसी के कारण समाज के सभी वर्ग राजनीति में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे। भारत में राजनीतिक चेतना के फलस्वरुप भारतीय जनजीवन में भी राजनीति के सामान्य चर्चा का विषय हो गयी है । स्वाधीनता के पश्चात् भारत में व्यक्ति तथा वर्ग अपने अपने हितों की रक्षा करने लगे। संवैधानिक अधिकारों की भावना ने व्यक्ति का आत्मविश्वास जगाया ।

प्रारभ से मनुष्य किसी-न-किसी तरह से राजनीति से सम्बद्ध रहा है । साहित्य, समाज,

शिक्षा, विज्ञान, धर्म इन सबका विकास भी आज की राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार होता रहा है। जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से तत्कालीन एकांकीकारो पर भी पड़ा है। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियां एकांकियों में अहम् भूमिका निभा रही है । इनमें जहाँ एक तरफ युद्धनीति, शासक के कर्त्तव्य, दण्डनीति आदि अनिवार्य रहते हैं वहीं दूसरी ओर प्रशासन के कार्य, चुनाव प्रणाली, नेता और जनता सम्बंध, साम्प्रदायिक दंगे, राजनैतिक भ्रष्टाचार, नौकरशाही की स्थिति का वर्णन भी एकांकियों में मिलता है । बड़े बडे अधिकारी अपने आतंक के द्वारा अपने स्वार्थो को पूरा करते हैं, पुलिस भी अपना रोब जमाने के लिये जनता पर अत्याचार करके मन में डर बैठा देती है । एकांकीकारों ने ऐसे भ्रष्ट अधिकारियों की पोल को अपनी एकांकियों में खोला है, और जनता को ऐसे व्यक्तियों से लडने का साहस जुटाने के लिए प्रोत्साति किया है। आज भारतीय नागरिकों के सामने अपने राजनैतिक स्वाधीनता को बनायें रखने की जो चिन्ता है और जिसके लिये उन्हें एकता, शांति और शक्ति सम्पन्नता को स्थायी बनाने तथा निर्भय होकर विकास की ओर अग्रसर होकर शांत और स्वच्छ वातावरण की जरुरत थी, लेकिन हमारा या हमारे देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि अधिकांश सत्ताधारी राष्ट्र की तरफ ध्यान न देकर अपनी स्वार्थसिद्धि कर रहे हैं जिसे न ही देशवासियों का भला हो सका और न ही राष्ट्र का फिर भी तमाम प्रकार की योजनाएँ बनाकर सरकार, देश को समृद्धशाली बनाने के प्रयत्न में लगी हुई है। पाक-चीन आक्रमण राजनैतिक नेताओं की चरित्र हीनता आदि का यथार्थ चित्रण आज की एकांकियों में एकांकीकारी द्वारा किया गया है । अतः राजनीति से आम जनता का सम्बंध प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रुप से जुड़ा हुआ है ।

हिन्दी एकांकी में राजनीतिक जीवन, स्वाधीनता संघर्ष, बंगाल का अकाल, भूख और दूषित शासन, फासिस्टवाद का विरोध, जागीरदारी और देशी नरेशों का जीवनयापन और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ भी प्रकट हुई हैं। युद्ध से पूर्व भारत की राजनीति के क्षेत्र में स्वतंत्रता का आन्दोलन चल रहा था। युद्ध काल में हिन्दी एकांकीकारों के सामने नई-नई परिस्थितियाँ आयीं। दैन्य, अभाव, बेकारी की चोट से जर्जर जीवन, बंगाल का अकाल 65 लाख मौतें, सन् 1942 का जन आन्दोलन, दमन, अत्याचार, नर राक्षसों की लूट और जनता की असमर्थता सब एकांकी साहित्य में सांकेतिक रुप में व्यक्त हुआ है।

पदग्रहण की समस्या आज अत्यंत गंभीर समस्या बन गई है । इसी से भष्टाचार, चोर बाजारी, रिश्वत, झूठ, हत्यायें जुड़ी हैं । आज कुर्सी के मद के दीवाने कितने ही ऐसे नेता हैं जो दिन रात इसी के मद में चूर रहते हैं और स्वार्थ वश होकर मार काट आदि मचाते हैं । रिश्ते नाते को भी भूल जाते हैं । केवल एकमात्र उद्देश्य और लक्ष्य उनका कुर्सी पाना ही होता है। उसके लिये उन्हें कुछ भी घिनौने कृत्य करने पडे

तो भी वे पीछे नहीं हटते हैं । पद् और कुर्सी पाने के लिए लोग एडी चोटी का जोर लगाते है । इसके लिये किसी भी हथकंडे को उपयोग में लाने में संकोच अनुभव नहीं करते हैं । 'मैत्री' शीर्षक एकांकी में सेठ गोविन्ददास जी ने निर्मलचन्द और विनय मोहन नामक दो अभिन्न मित्रों की म्युनिसिपैलिटी के चुनाव में प्रेसीडैंट के पद के लिए उम्मीदवारों के रुप में उनके मध्य उठ खडे संघर्ष को चित्रित किया है । किन्तु जब उन्हें स्थिति का आभास होता है तो दोनों तय करते हैं कि ऐसा पद उन्हें नहीं चाहिये । विनयमोहन के शब्दों में "और में यह प्रेसीडेंट शिप तो दूर रही, भारतीय साम्राज्य की प्रेसीडेंटी और..... अगर सारे संसार का फैडरेशन बने और उसकी प्रेसीडेंटी मिले तो, उससे भी अपनी मैत्री को बड़ी चीज समझता हूं। जो पद हमें लोलुपता के नजदीक ले जा सकता है ... ।"[88] निर्मलचन्द्र भी कहता है - "जो हममें एक दूसरे से स्पर्द्धा, और स्पर्द्धा ही नहीं, ईर्ष्या की उत्पत्ति कर सकता है ... झूठ बुलवा सकता है ... क्रोध पैदा कर सकता है । अपशब्द बोलवा सकता है । .... एक दूसरे के प्रति घृणा पैदा कर सकता है । उस पद को हम दोनों मंजुर नहीं करेंगे । लेखक ने विश्व बन्धुत्व पर बल देते हुए एकांकी के माध्यम से चित्रित किया है कि ..... "साधारण नागरिक रहकर भी अपना समाज, देश और विश्व का उत्कर्ष कर सकते हैं । ..... और अपने प्रेम के द्वारा विश्व से प्रेम करना सीख उसकी सेवा कर सकते हैं ।[89]

सेठ गोविन्ददासजी ने 'अधिकार लिप्सा' एकांकी में अयोध्यासिंह की अधिकारलिप्सा को दर्शाया है। मनुष्य की एक बड़ी दुर्बलता को बताया है। जिसमें मनुष्य की अधिक सुख की लालसा और उसकी प्राप्ति के प्रयास में मनुष्य लगा रहता है । आयोध्यासिंह भी हकुमत करते करते इसका आदी हो गया था वह इसे त्यागने की बात सोच भी नहीं सकता था । इसलिये उसे अपने पुत्र से भी ईर्ष्या होने लगती है । हमारे पूर्वजों ने भी निश्चित अवधि निर्धारित की थी जिसके अन्तर्गत एक निश्चित समय के पश्चात् मनुष्य को चाहिये कि वह संयास ग्रहण कर ले । बल्कि इसमें तो खुशी मिलनी चाहिये कि उनकी जिम्मेदारियॉ अब पूर्ण हो गई हैं अब उनके पुत्रों की जिम्मेदारी है कि वे इस परंपरा को आगे बढ़ायें। जब पुत्र स्वयं जिम्मेदारियों को बखूबी उठाने में समर्थ होने लगे तो बुजुर्गो को तो इसमें आनन्दानुभव होना चाहिये क्योंकि सांसारिकता से उठकर आगे की और बढ़ना चाहिए । न कि अयोध्यासिंह की भांति अपने ही पुत्र से ईर्ष्यानुभव करने लगें और स्वयं को ईर्ष्या की अग्नि में स्वाहा कर बैठे । सेठ गोविन्ददासजी ने अयोध्यासिंह के माध्यम से सत्ता के लिए संघर्ष करने वालों पर व्यंग्य किया है। यदि हम एकांकीकार के उद्देश्य को भलीभांति समझ सकेंगे तो सत्ता के मोह में कुर्सी को प्राप्त करने वालों में होने वाले दिन रात के झगडे ही समाप्त हो जाएँ। व्यर्थ के पचडे में पडने की बजाय इससे विलग रहकर जीवन का आनन्द उठाएँ तो श्रेष्यकर होगा हमारे लिये भी और हमारी आने वाली पीढियों के लिये भी । आज स्वतंत्र भारत में शासक और शासित के बीच भारी विभेद है। सत्ताधारी की बात

ही निराली है, अलग है। उनके लिये सभी सुविधायें तुरंत उपलब्ध हो जाती हैं, किन्तु उसी काम के लिए आम जनता को कितने ही पापड बेलने पडते हैं। ये इतना विभेद क्यों? जबकि सत्ताधारी को चाहिए कि आम जनता के दुःख, तकलीफों को महसूस करे और उन्हें दूर करने का प्रयास करे। शासकों और शासितों के बीच इतने विभेद होने पर किसी भी देश में तब शासन के प्रति प्रेम और अपनेपन की भावना उत्पन्न हो ही नहीं सकती है। 'वह मरा क्यों?' एकांकी में सेठ गोविन्ददासजी ने आजादी के पूर्व अंग्रेजों के शासनारुढ एक गोरे सिपाही अर्थात् अंग्रेज की जान की कीमत उनकी दृष्टि मे कितना महत्व रखती है , इसे उद्घाटित किया है। जबकि कितने ही हिन्दुस्तानी सिपाहियों की मृत्यु हो जाने पर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता था। शासक जब छोटी-छोटी बातों से अनभिज्ञ होगा तो उसे शासितों के प्रति अपनेपन की भावना कहाँ से आ पाएंगी?

'स्वर्ण श्री' वर्माजी की ऐतिहासिक एकांकी है । इतिहास की एक कथा को लेकर उन्होंने वर्तमान समय की एक बड़ी समस्या को उठाया है तथा उसका समाधान भी ढूँढा है । वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिए हमें इतिहास का सदैव सहारा लेना पड़ता है । ऐतिहासिक परिणामों को देखकर ही हम वर्तमान समस्या का समाधान ढूँढ सकते हैं । यहाँ वर्माजीने नारी के आदर्श को स्थापित किया है। नारी के प्रति यहाँ आपका दृष्टिकोण आदर्शवादी है । प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से वर्माजीने राजा के प्रजा के प्रति दायित्वों कर्तव्यों का बोध कराया है । शासक जब पद के मद में बावला होकर प्रजा के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नही करता तब वह सहज ही मृत्यु पथ का पथिक भी बन जाता है।[90] अतः वर्माजी ने प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से इस प्रकार हिदायत दी है । एकांकी में आपने वृहद्रथ की कथा को लिया है । वृहद्रथ राजा होते हुए भी अपने प्रजाजनों पर अत्याचार होते हुये देखता रहा और स्वंय भी मनमानी करता रहा। उसने धारिणी जैसी नारियों का अपहरण होने दिया, सैनिको को वेतन नहीं दिया, निरपराधियों को दंडित किया तथा अपने विलास के लिए प्रजाजनों को भांति-भांति के कष्ट दिए । दुष्ट तथा विलासी विदेशी तेलिपस के मनोरंजन के लिए उसने नीरीह नारी को उसने समक्ष नृत्य करने को बाध्य किया । अतः वर्माजी की मान्यता है कि जो अपने प्रजाजनों के हितों अहितों का ही खयाल नहीं रख सकता है । ऐसे राजा को शासन करने का कोई अधिकार नहीं मिलना चाहिए बल्कि ऐसी सत्ता को उखाड फेंकना चाहिए और ऐसे शासक को दण्डित करना चाहिए । इस प्रकार आपने प्रजा के सार्वभौमिक अधिकारों को अभिव्यक्त किया है - इसमे नागदत्त ने बडे सीधे शब्दों में कहा है कि - 'राज्यधर्म की उचित आलोचना का अधिकार प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को है । यदि राज्यधर्म की उचित आलोचना न हो तो वह व्यवस्थित नहीं हो सकता ।'[91] इस प्रकार वर्माजी ने 'स्वर्णश्री' एकांकी में अपने कथ्य को व्यक्त करके सुझाया है कि पवित्र नारी का अपमान संसार में क्रांति का अग्रदूत होता है और उसका संतोष ही स्वर्ण श्री का प्रतीक भी।[92]

'कादम्ब या विष' एकांकी में अधिकार लिप्सा से अपने पति की हत्या करने वाली अनन्तदेवी की कपट कहानी को डॉ. रामकुमार वर्माजी ने अंकित किया है। राज्य लिप्सा तथा अधिकार प्राप्ति के लिए मनुष्य क्या नहीं करता ? ऐश्वर्य और सत्ता के लोभ ने किसके मन को कलंकित नहीं किया है ? मनुष्य की इसी प्रवृत्ति का विश्लेषण इस एकांकी में बहुत अच्छी तरह किया गया है। राजनीति की चाल साधारण तथा टेढी रहती है और यहाँ वह प्रमाणित हो गई है। यह भी जानने योग्य बात है कि विलासिता ही कुमारगुप्त के विनाश के लिए कारण बनी है। यह बात अन्त में स्कन्दगुप्त के संवाद से स्पष्ट हो जाती है - "स्कन्द-मगध का शासन विलास की छाया में नहीं हो सकता, कृपाण की छाया में होगा।"[93]

'सोन का वरदान' एकांकी में डॉ. रामकुमारजी ने अशोक द्वारा राज्यश्री की प्राप्ति के लिए जिस युक्ति-नीति का परिचय दिया उसे चित्रित किया है। अशोक खल्लाहक से कहते हैं कि परिस्थिति कभी भी भयानक नहीं होती है। मनुष्य की दुर्बलता का दूसरा नाम परिस्थिति है। जब मनुष्य विवश होकर कुछ नहीं कर सकता तो वह सरलता से कह देता है, 'परिस्थिति अनुकूल नहीं है... भयानक है।' मनुष्य ही परिस्थिति का निर्माण करता है। असफल होने पर भाग्य को दोष देता है। अपने हाथों से अपनी शक्तियों की हत्या करता है और कहता है मैं अकेला हूँ। एकांकी के माध्यम से वर्माजी इस महान सत्य को उद्घाटित करते हैं। अन्तर्विद्रोह और गृह-विद्रोह विपक्षियों की हिंसा से भी भयानक है .... "राजनीति में विद्रोह वह हिमखण्ड है जो अविश्वास की आँच में गलकर बह जाता है।"[94] साथ ही यह भी प्रतिपादित किया है कि सत्य पर स्थिर रहने पर प्रत्येक मार्ग राजमार्ग है। भूमि का प्रत्येक खण्ड सिंहासन है और सिंहासन उच्च नहीं है। सिंहासन पर बैठने की योग्यता उच्च है। यदि कोई व्यक्ति सच्चा मानव बन सके तो वह महान् बन जायेगा। जहाँ वह है, वहाँ सारी प्रकृति है। मानव सृष्टि का केन्द्र है, राष्ट्र है, युग है, अनन्त प्रगति तथा अनन्त शक्ति का स्रोत है। प्रजा की शक्ति को ईश्वर की शक्ति प्रतिस्थापित किया गया है। अतः यह एक सोद्देश्य रचना है। इसके माध्यम से आज के नेताओं को सावधान किया गया है।

भारतेन्दुजी की 'अंधेर-नगरी' का पूरा नाम है- 'अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' है। इसका उद्देश्य है- 'लोभ से बचना चाहिए और भले-बूरे की पहचान नितांत आवश्यक है।' हास्य विनोद के माध्यम से अनेक दुर्गुणों पर आक्षेप विद्वान साहित्यकार ने किये हैं जो आज भी किसी न किसी रुप में विद्यमान हैं।[95] इसके आरंभ में मार्मिक उपदेश हैं, जिनमें स्वार्थाधता और कपट का त्याग, देशवासियों की सेवा और उन्नति, गुणग्राहकता, परोपकार और सद्भक्ति के विषय में बताया गया है। इसका नायक राजा है

परन्तु वह अयोग्य है। उसके राज्य में कोई व्यवस्था नही है। प्रत्येक वस्तु टके सेर बिकती है। गुणों का कोई मूल्य नहीं है, वह सदा शराब में डूबा रहता है। मंत्री चाटुकार है। बकरी के मरने पर किसी भी व्यक्ति को फाँसी दी जाय यह उसकी न्याय व्यवस्था है। राजा के चरित्र और उसके राज्य की न्यायव्यवस्था का दिग्दर्शन कराके भारतेन्दुजी सामाजिकों को देशी राज्यों के कुशासन और ब्रिटीश शासन में न्याय व्यवस्था के दोषों से अवगत कराना चाहते हैं। गुरुजी सद्ज्ञान का प्रतीक बनकर आये हैं। जिस राज्य में अव्यवस्था हो, गुणों का मूल्य न हो, वहाँ न रहने का वे परामर्श देते है। 'अंधेर नगरी' के माध्यम से भारतेन्दुजी अपने युग का सजीव चित्र उपस्थित करने में सफल हुए हैं। राजनैतिक और सामाजिक जीवन का सच्चा चित्र उपस्थित हुआ है। समस्त देश उनके समय में अंधेरनगरी बना था। सामाजिकों को वे यही दर्शाना चाहते थे। अंग्रेज न्याय का गला घोट रहे थे। राजा समस्त राज-व्यवस्था का प्रतीक है। ब्राह्मण टके में जात बेचते थे। अन्त में, गुरु के शब्दों में उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है कि जीवन और राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिए धर्म, नीति और बुद्धि की महान् आवश्यकता है। अन्यायी राजा को अन्त में फॉसी पर चढाकर भारत के उद्धार की ओर संकेत किया है।

'विषस्य विषमोषधम्' में देशी राज्यों के कुप्रबंध, वहाँ के नरेशों के चारित्रिक पतन और देशी राज्यों के संबंध में अंग्रेजों की राजनीति की आलोचना भारतेन्दुजी ने की है। विष को विष ही मारता है, यही इसके शीर्षक का अर्थ है। दुर्व्यसन, कुप्रबंध आदि तत्कालीन राजाओं के घातक दोष थे। और इनका निराकरण उस शक्ति द्वारा होना चाहिए था जिसने इन राजाओं को सभी बाह्य तथा आंतरिक शत्रुओं से बचाने का वचन दिया था। देशी राजाओं के दोषों के निराकरण के उद्देश्य से ही उन्होंने इसकी रचना की। तत्कालीन देशी राजा विलासी और दुराचारी थे। आरंभ से ही उन्होंने बताया कि विलास-भावना व्यक्ति का जीवन नष्ट कर देती है - "पर नारी पैनी छुरी, ताहि न लाओ अग। राबन हू को सिर गयो, पर नारी के संग।" सिफारिश के महत्व को प्रतिपादित करते हुए भंडाचार्य के माध्यम से भारतेन्दुजी कहते हैं, "... और निबाह भी इसी से है, हजार जान दे मरो सिफारिश नहीं तो कुछ नहीं तो कुछ भी नहीं।.... पर भाई सिफारिशियों का कल्याण है।" भारतेन्दुजी ने 'भारतजननी' में भारत जननी का समस्त चरित्र प्रतीक रुप में उस काल के भारत की यथार्थ अवस्था का दिग्दर्शन कराता है। उस समय देशवासी एक प्रकार से निरीह हो चुके थे और अपनी दशा सुधारने के लिए अंग्रेजी सरकार के सामने हाथ पसारने के सिवा और कोई मार्ग उनकी समझ में न आता था। भारतेन्दुजी ने धैर्य के प्रवेश से इसके उद्देश्य को स्पष्ट किया है। अपनी दशा को सुधारने का एकमात्र मार्ग स्वयं कटिबद्ध होना है। 'उठो उठो सब कमरन बांधौ शस्त्र न सान धरौरी, विजय निशान बजाय बाबरे आगेइ पाँव धरौरी।' और - 'हे भातृगण! अब उठो और जननी के दुखानल के निवारण का प्रयत्न करो; अभिमान, लोभ,

अपमान-आत्म-समाज, प्रशंसा, परजात निन्दा इन सबका सावधानीपूर्वक परित्याग करो। धैर्य का आलंबन करो।" अतः भारेतन्दुजी की उक्त रचनाएँ आज के युग की अर्थात् इस समय भी प्रासंगिक हैं।

लाला खड्गबहादुर मल्ल कृत 'भारत-भारत' में लेखक ने पराधीन भारत की यथार्थ दुःखभरी स्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इस प्रकार इस काल के प्रारंभिक लेखकों ने अंग्रेज राज्य की प्रशंसा की है तो परवर्ती लेखकों ने उसी शासन की कटु आलोचना कर तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना के स्वर को मुखरित किया है। सेठ गोविन्ददास के एकांकी 'अजीजन' में वेश्या अजीजन के राष्ट्रहित त्याग की कथा है। जगदीशचन्द्र माथुर के 'विजय की बेला' में महाराज कुँवरसिंह के आत्मबलिदान की कहानी अंकित है। करतारसिंह दुग्गल के 'दीया बुझ गया' में माँ अपने देशद्रोही पुत्र की हत्या करती है। सत्येन्द्र के एकांकी 'स्वतंत्रता का अर्थ' देशप्रेम तथा राष्ट्र भावना से अनुप्राणित है। मंगल प्रसाद के एकांकी 'शेरसिंह' में अंग्रेजों के विरुद्ध शेरसिंह के द्वारा किये गये विद्रोह की चर्चा है। श्री जयनाथ नलिन के 'विद्रोही की गिरफ्तारी' में क्रांतिकारी युवक की राष्ट्रभक्ति का अंकन है। एस.पी. खत्री कृत 'ठाकुर का घर' देशभक्त के बलिदान पर आधारित है। श्री विराज के एकांकी 'तिरंगा झंडा', 'सीमान्त संतरी' तथा आशीर्वाद भी राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित हैं। सुधीन्द्र कृत 'खून की होली' में स्वातंत्र्य संग्राम के सैनिकों पर भारतीय पुलिस के अत्याचारों का निरुपण है। सत्येन्द्र कृत 'स्वतंत्रता का अर्थ' में राष्ट्रीयता के आदर्श की ओर संकेत किया गया है। त्रिलोचन कृत 'भूखे भेडिये', केदारनाथ मिश्र कृत 'काल दहन' में राष्ट्रीय चेतना को उभारा गया है। गोवर्द्धन शर्मा का 'यह देश हमारा है'इसी भाव को प्रकट करता है।

'बहुत बड़ा सवाल' एकांकी में राकेशजी ने चित्रित किया है कि परिस्थितिवश तरह-तरह के सवाल उठते हैं किन्तु इन सवालों का जब कोई जवाब नहीं मिलता तो यह यह बहुत बड़ा सवाल बन जाता है। आज एक नहीं अनेक सवाल राष्ट्र के सामने उपस्थित हैं। ये सभी जानते हैं कि कैसे-कैसे सवाल हैं और कितने गंभीर हैं। सभी उन सवालों का हल ढूँढना चाहते हैं किन्तु सवाल ज्यों के त्यों वहीं रहते हैं। इनके हल के लिए मीटिंग आयोजित की जाती है। सवाल इतने बडे-बड़े हैं कि उन पर विचार करने के लिये उन्हें हल करने के लिए बड़े-बडे कोरम वाले संघटन भी बना लिये गये हैं। मीटिंगों के नोटिस पर कागज जाया किया जाता है, पर समय पर पहुँच पाने की फुर्सत तक सदस्यों के पास नही है। सैक्रेटरी उपस्थित हैं तो प्रधान नहीं, सदस्य हैं तो सैक्रेटरी नहीं। सदस्य आते हैं तो ऊब के साथ- साथ अहसान का अहसास लिये हुये। व्यर्थ की बातों पर बहस होती है, पर एजेण्डा छुआ तक नहीं जाता, यदि छुआ जाता है तो खामखाह की तरमीमें और सशोधन, परिणाम वही नकार, जो समूची राष्ट्रीय चेतना में भर चुका है। आज तक यही मानसिकता इस देश

की सामान्य सोसायटियों के नेताओं में नहीं, अपने-आपको राष्ट्रीय स्तर के नेता कहने वाले लोगों में भी रही है। परिणामस्वरुप प्रत्येक दिशा में राष्ट्रीय स्तर पर बड़े-बड़े सवाल तो उठाये जाते रहे हैं, पर ढंग वही निम्न स्तर का, जिसकी मानसिकता ने समूची राष्ट्रीयता की जड़ें खोखली करके रख दी है। इस प्रकार राकेशजी ने प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से राष्ट्रीयता के सामने मूँह बाये खडे सवाल को स्तर और अस्तित्व के मानक तक उठाया है, जिसका उत्तर छोटे-बडे, नेता-प्रजा सभी को मिलकर खोजना है। इसमें बहुत सारे पात्र बहुत बडे सवाल को लेकर बहुत-सी बहसबाजी करते हैं। व्यंग्य के माध्यम से आमतौर पर सभा सोसायटी में चलनेवाले चर्चा सत्र अंतिम परिणामों को व्यक्त हुई है। साधारणतया हर व्यक्ति यह सोचता है, उसे लगता है किउसके सवाल जो जिन्दगी से, व्यक्ति या समाज से सम्बंधित हैं, बहुत बड़े हैं।

सेठ गोविन्ददासजी कहते हैं कि यह कितने दुःख की बात है कि उन इतिहास की रचना करनेवालों को ही भूल गए हैं जिनके अथक प्रयासों और बलिदान-त्याग के द्वारा ही हम आज आजाद देश में विचरण कर रहे हैं किन्तु उन आजादी में बलिदान देनेवालों उन शख्शों को ही भूला बैठे हैं। उनके लिये महज एक सच्ची श्रद्धा भी हृदय में नहीं बची है। हमारा देश और देशवासी अपनी ही दुनिया में लीन उन इतिहास गढ़ने वालों को ऐसा भूल गये हैं कि उनके वंशजों को इस तरह दयनीय होना पड़ता है। कोई वंशाभिमान त्यागकर साधारणतया धरातल पर खड़ा होना चाहे तो दुनिया उसे उसके लिये भी सुविधा नहीं देती है। यह विचारणीय विषय है। 'कंगाल नहीं' एकांकी में इसी समस्या को सेठजी ने चित्रित किया है। सरकारी योजनाओं में कार्यान्वित करने वाले अधिकारियों के मनोभावों के प्रति भी इस एकांकी में व्यंग्य किया गया है। सेठजी ने दुःख के साथ यह देखा कि सरकारी अधिकारी सरकारी आज्ञा-पत्र के वर्ण को ही पकड पाते हैं। नीति का निर्धारण करने वाले शासकों और शासक द्वारा निर्धारित दूरी के कारण जो कुछ हो सकता था या है, वह भी नहीं हो पा रहा है। शासक-शासित के बीच यह दूरी भी उचित नहीं है। 'आधुनिक यात्रा' में भी सेठजी ने रेलगाडी में होनेवाली नियमित दैनिक कठिनाइयों के माध्यम से शासनतंत्र की आलोचना की है। सेठजी ने अंग्रेजों की रेल-व्यवस्था की भ्रष्टता को उभारकर यह बताया है कि जो सरकार जनता की सुख-सुविधा के प्रति बेपरवाही करे उसे शासनारुढ रहने का कोई न्यायोचित अधिकार नहीं हो सकता है। अंग्रेजी सरकार के संचालन व्यवस्था के अन्तर्गत रेल प्रशासन की आलोचना करते हैं। जनता और सरकार दोनों के उचित सहयोग से ही शासन व्यवस्था सुचारु रुप से संचालित हो सकता है। प्रजाजन की निष्क्रियता शासन तंत्र के लिये सबसे बडी बाधा है। यदि जनता सक्रिय रहेगी तो सब कुछ संभव है। सेठजी प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से एक प्रकार से क्रांति लाना चाहते है और उनमें अंग्रेजी सरकार के प्रति विरोधी स्वर, विरोधी रुख का आभास होता है।

'अधिकार का रक्षक' उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी की राजनैतिक पृष्ठभूमि पर आधारित एकांकी है जिसमें समाज के तथा कथित समाज सुधारकों की कथनी और करनी में विद्यमान विषमता को विश्लेषित किया गया है । नेताओं के सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीनवनमें अर्थात् उनके बाह्य तथा वास्तविक तथा व्यवहार में भारी अन्तर और वैषम्य होता है । निर्वाचन के समय वोट ज्यादा से ज्यादा मिले इसके लिये ऐसे नेतागण अपने सार्वजनिक जीवन में अत्यंत कोमल तथा वात्सत्यपूर्ण व्यवहार का स्वांग भरते हैं । किन्तु वे इसके विपरीत आचरण करते हैं । छल कपट झूठ आदि इनके साधन होते हैं । अपने मकसद के लिए किसी भी हदतक गुजर सकते हैं । श्री शिवदानसिंह चौहान ने एकांकी के विषय में अपना मत अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि "अश्क" ने अधिकार प्राप्त वर्ग के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन दुरंगी नैतिकता का अत्यंत सजीव और यथार्थ चित्रण किया है। दलितों और शोषितों के प्रति सत्ताधारी वर्ग की मौखिक सहानुभूति और ऊंचे आदर्शो के मंत्रोच्चार का खोखलापन नाटक के वास्तविक दीन दुखियां पात्रों के प्रति उनके आचरण व्यवहार से मूर्तित हो जाता है ।" उदयशंकर भट्टजीकी 'नेता' एकांकी भी समकालीन युग के तथाकथित समाज सुधारकों के दोहरे व्यक्तित्व को उद्घाटित करने वाली एक व्यंग्य प्रधान एकांकी है।

सेठ गोविन्ददास कृत 'सुदामा के तन्दुल' में स्वार्थी संकुचित तथा चाटुकारी करने वाले नेता की आलोचना की गई है । आपके दूसरे एकांकी 'आई.सी.' में मंत्रीयो के बाह्य आडम्बर तथा आंतकित संकीर्णता पर तीखा व्यंग्य है । 'सच्चा कांग्रेसी बनो' में कांग्रेस में बैठे अवसारवादियों की आलोचना की गयी है। 'भूख हडताल' में सत्याग्रही अपने आदर्श छोड़कर किस प्रकार अवसरवादी बन गए हैं उसका चित्र अंकित है । 'यू.नो.' में उद्वत, अभिमानी तथा स्वार्थी नेताओं के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है ।

'जालौक और भिखारिणी' एकांकी में सेठ गोविन्ददास जी ने जालौक के चरित्र की ऊंचाई, प्रजा की सेवा को सर्वोपरि समझना, सदा उसकी सेवा, सुख और संतोष का विचार करना, अतुल प्रजा-वत्सलता, प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त की गई है । जालौक दृढ प्रतिज्ञ प्रजापरायण हिन्दू राजा हैं जो हमारे आजकल के शासकों के लिए एक जीता जागता आदर्श प्रस्तुत करता है । 'सच्ची पूजा' एकांकी में भी आपने एक शासक की सच्ची पूजा क्या होनी चाहियें इसे स्पष्टकिया है । अर्थात् प्रजाकी सेवा ही एक शासक का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए ।

'युद्ध के बाद' एकांकीमें जयनाथ 'नलिन' जी ने लडाई के पश्चात् होने वाले विध्वंस, खंडहर, बेबस मानवता की पुकार तडप कर मरने वाले बच्चों की तडप और रोटी के लिए मानव तथा कुत्तों में छीना झपटी की

दर्दभरी झांकी हैं। एकांकी में नलिन जी ने सैनिक धर्म की निर्ममता तथा राष्ट्र की ममता का सुंदर चित्रण किया है । "नायक रहमान, हमारे ऊपर देश की रक्षा का भार है । हमें सेना एकत्र करनी है । जिस प्रकार होगा, शत्रु को परास्त करेंगे"[96] इसी प्रकार आपने अपनी एकांकी 'देश की मिट्टी' में प्रतीकात्मक शैली मे देश की पुकार विदेशियों द्वारा विध्वंस, ललनाओं पर अत्याचार चित्रित किये है, और नवयुवकों को देश सेवा करने की प्रेरणा दी है । सौन्दर्य तथा कला के मोहपाश में अवरुद्ध युवको को अब प्रेम स्वप्न त्याग कर देश की प्रगति उन्नती के लिए कर्मरत हो जाना चाहिए - यही इस एकांकी का मूल भाव है । श्रीपंत के एकांकी 'ध्वंसशेष' में विश्व-ध्वंसक युद्ध के भयानक परिणाम की चर्चा उठायी है । श्री सिद्धनाथ कुमार के 'सृष्टि की सांझ' में बीसवीं सदी में शांति एवं आदर्शो की रक्षा के नाम पर होनेवाले युद्ध की भयंकरता बतायी गयी है। श्री धर्मवीर भारती के एकांकी 'सृष्टि का आखिरी आदमी' में युद्ध से संत्रस्त वर्तमान सभ्यता का चित्र है ।

'सिपाही की माँ' में मोहन राकेश जीने कुछ महत्वपूर्ण यथार्थ बिन्दुओं को लेकर लेखक ने हमें युद्ध की भयावह परिस्थिति से अवगत कराया है । वर्तमान व्यवस्था में नारी चाहे वह माँ हो, पत्नी अथवा बहन - राजस्थान की हाडारानी नहीं है जो सेनाणी (पहचान) के रुप में अपना सिर काटकर राणा चूडावत को युद्ध के लिये प्रेरित करे । आज तो सिपाही की मॉ इकलौते लडके को लडाई में भेचने को विवश हैं : 'तू बात क्यों नहीं समझता, मैं इसकी माँ हूं । मैं इसे अच्छी तरह जानती हूँ । यह किसी दुश्मनी से लड़ाई में नही गया । इसे मैंने लडाई में भेजा था । ... इसकी बहन अब ब्याहने जोग हो गई है । छः महीने सालभर में हमें उसका ब्याह करना है। हमारे घर की हालत बहुत खराब है । अगर लडकी के ब्याह की चिन्ता न होती तो हम लोग आधापेट खाकर रह लेते पर मैं कभी इसे लडाई पर नहीं भेजती।' कई बार बिना सोचे समझे युद्ध का माहौल पैदा कर दिया जाता है । कोई यह नहीं सोचने की कोशिश करता है कि न चाहते हुए भी युद्ध में भाग लेनेवाले आम सैनिकों की क्या दुर्दशा होती है । सिपाही की मानसिकता के यथार्थ पहलू को यहाँ राकेशजीने उसकी उक्ति के द्वारा प्रेषित किया है । 'मेरी माँ .... ? (जरा सा हँसकर) मेरी माँ अब पागल हो गई है । वह रोज़ मेरी मौत का इंतजार करती है । वह हँसकर कहती है कि थोडे दिनों में मेरे बेटे की लाश घर पर आयेगी । मेरी बीवी ने भी अभी से बेवा का स्वाँग बना लिया है । उसने मुझे लिखा है कि जिस दिन वह मेरे मरने की खबर सुनेगी, उस दिन गले में फाँसी लगाकर मर जाएगी उसके पेट मे छः महीने का बच्चा है । उसके साथ वह भी मर जायेगा. .. ।" राकेश जी ने वर्मा से आयी दो शरणार्थी लडकियों के माध्यम से युद्ध की स्थिति पर प्रकाश डाला है । ये लडकियां भीख मॉगती घूम रही हैं, रंगून से आयी हैं जहां से हजारों लोग घर बार छोडकर भारत आ गये है । जापानियों की बमबारी से सबकुछ तहस-नहस हो गया। बिछनी और मुन्नी के पूछने पर वे बताती हैं कि युद्ध इतना भीषण हैं कि "वहॉ रातदिन आग बरसती है।" बिशनी द्वारा बेटे मानक के बारे में

पूछने पर बर्मी लड़कियॉ कहती हैं । "एक तो रास्ते में इतने घने जंगल हैं, फिर जंगली जानवर हैं और फिर पता नहीं, कहॉ दुश्मन की फौज का मोर्चा हो । जंगल के चप्पे चप्पे में लडाई चलती है माँजी । हमने रास्ते में सैकडों सिपाहियों की गली सडी लाशे देखी थी । यहाँ हिन्दुस्तानी सिपाहियों की लाशें पडी मिलती तो वहॉ जापानी सिपाहियों की उनकी हालत देखकर दिन दहल जाता था।" इन शरणार्थी बर्मी लड़कियों द्वारा राकेश जी युद्ध की भयावहता एवं विभीषिका चित्रण करना चाहते हैं। युद्ध में जाने वाले सैनिक विवश होते हैं - कई बार परिस्थितियॉ उन्हें बाध्य करती हैं कि वे युद्ध में जायें प्राणपण से लडें । पर युद्ध बर्बर होता है उसमें इन्सानियत समाप्त हो जाती है । राकेश जी ने बिशनी को एक उदार माँ के रुप में चित्रित किया है। जब स्वप्न में वह देखती है कि मानक शत्रु पक्ष के सिपाही का वध करना चाहता है तो बिशनी कहती है : "नहीं मानक तू इसे (सिपाही को) नहीं मारेगा । यह भी हमारी तरह गरीब आदमी है । इसकी मॉ इसके पीछे रो रोकर पागल हो गयी है । इसके घर में बच्चा होने वाला है । यह मर गया तो इसकी बीवी फाँसी लगाकर मर जायेगी।" इस प्रकार बिशनी का वात्सल्य केवल अपने बेटे मानक तक सीमित नहीं है, वह सभी मॉओं के बेटे की चिन्ता करती है ।

आज हम देखें तो निरन्तर मूल्य टूटते जा रहे हैं और वह सभी स्तरों पर समान रुप से यह बात लागू होती है क्योकि वह केवल किसी व्यक्ति, परिवार राष्ट्र के बारे में या व्यापक मानवीय हितों के बारे में कैसे सोच सकता है ? एकांकीकार की मानसिकता में जब राष्ट्र के शहीदी परिवारों की प्राथमिक व अंतिम स्थिति 'सिपाही की मां' जैसी ही हो तब भला वह देश भक्ति के आदर्श मूल्य को निभा पाने में कैसे समर्थ हो सकते हैं?" अतःआज के आर्थिक दबावों और अस्तित्व बोध आदि ने व्यक्ति को विवश कर दिया है कि सर्वप्रथम वह स्वयं के हितों को देखें । मोहन राकेश जी ने प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से इस दिशा में सोचने के लिए एक महत् विचार दिया है कि कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो व्यक्ति के हितों की देखभाल करे ताकि राष्ट्रीयता के महत्वपूर्ण प्रश्न पर किसी प्रकार की दरार न आ जाए । किसी भी युद्ध के परिणाम जो भी हों उनके परिवार के सदस्यों की स्थिति किसी घायल से कम नहीं होती। निरंतर वापसी का इन्तजार निरन्तर चिन्ता मन में बनी रहती है । युद्ध के भीषण परिणामों का भविष्य राकेश जी ने प्रस्तुत किया है।

एकांकियों में विवेचित धार्मिक समस्याये :-

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो में 'संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है ।' मनुष्य अपनी जीवन धारा को सहज, सुगम प्रवाहित करने के लिए कुछ रीतियों एवं मान्यताओं का निर्माण करता है । अपने परम कल्याणकारी रुप में यही रीतियॉ संस्कृति का रुप धारण कर लेती हैं ।

'संस्कृति' शब्द से भी यही संकेत मिलता है कि जो रीतियाँ अविरल रुप से संस्कार की राह से गुजरती रहती हैं, वे ही पूर्ण संस्कृत होकर संस्कृति बन जाती है । भारत में नारी को श्रद्धास्पद माना गया है, उसे आदर भावना से देखना और पूज्य माना गया है। कह सकते हैं कि भारत की विश्व विश्रुत संस्कृति का वह एक विशिष्ट अंग है । पहले पहल नारी के त्यागों एवं अन्य महानताओं पर मनुष्य की दृष्टि गई होगी, तब शनैःशनैः उसकी महत्ता को व्यापक रुप से स्वीकार किया गया होगा और कालान्तर में यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता, "अर्थात् जहाँ नारी पूजी जाती है वहाँ देवता निवास करते हैं, कहने की सर्वोत्तम स्थिति तक पहुँचकर यह भावना, कि नारी पूजनीय है, संस्कृति में समाहित हो गई होगी । धर्म, नीति, कला, साहित्य आदि के क्षेत्र में इसी प्रकार विविध साधनों की सर्वोत्तम परिणति संस्कृति में समाविष्ट हो जाती है ।" [97] "वर्तमान भारत में सास्कृतिक परिवर्तन में विज्ञान का महत्व पूर्ण योगदान रहा है । विज्ञान के प्रकाश में परम्परागत कुरीतियों, रुढ़ियो एवं अंधविश्वासों का अंधकार तिरोहित हो गया। वैज्ञानिक युग के पूर्व विश्व में ईश्वर सर्व शक्तिमान समझा जाता था । ईश्वर को प्रसन्न रखना ही प्राकृतिक दुर्घटनाओं से बचने का एक मात्र उपाय था । अतःईश्वर को प्रसन्न रखने के लिए आवश्यक था कि मानव अपनी असमर्थता, शक्ति-हीनता तथा नम्रता व्यक्त करके ईश्वर पर पूर्ण विश्वास करे ।"[98] किन्तु अब ईश्वर और धर्म के स्थान पर व्यक्तिगत हितों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है । अर्थात् अब अध्यात्म के स्थान पर भौतिक जीवन दर्शन का आश्रय लिया जाता है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इत्यादि पारम्परिक सांस्कृतिक प्रतिमानों के प्रति आज का व्यक्ति आस्था व्यक्त करने में हिचकिचाता है । इस प्रकार वर्तमान भौतिकवादी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अध्यात्म और धर्म प्रधान संस्कृति के मूल्य ध्वस्तता की सीमा पार करगये हैं ।

भारतीय संस्कृति के निर्माण में धर्म का व्यापक योगदान रहा है । वैदिक साहित्य में 'धर्म' की विस्तृत व्याख्या मिलती है । कुल मिलाकर धर्म वह है जो हम सबको एवं संपूर्ण विश्व को धारण करता है। महाभारत ने धर्म को 'परंपरा के पालन' के अर्थ में स्वीकृति प्रदान की है । सामाजिक स्थिति के निर्माण में परम्परायें विशेष सहायक होने के कालान्तर में परम्पराओं का पालन भी धर्म स्वीकार कर लिया गया । युगीन परिस्थितियों के संघात से आज धर्म का परंपरागत स्वरुप अस्थिपंजर मात्र रह गया है । व्यक्ति चिन्तन के परिणाम स्वरुप अब परम्परागत धर्म सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम न होकर जीवन का वैयक्तिक एव ऐच्छिक अंश रह गया है । परिणामतः धर्म की परंपरागत विचारधारा में अभूतपूर्व परिवर्तन के दर्शन होते हैं । भूत प्रेत, जादू-टोना आदि मान्यताओं में तो बदलाव आये ही हैं साथ ही ईश्वर के प्रति भी अब पुराने समय जैसा अंधविश्वास नहीं रहा । उसे भी अब एकशक्ति और आत्मबल के रुप में स्वीकार किया जा रहा है । देवी देवताओं के प्रति अब अतीत काल जैसी संकीर्णता नहीं रही, अब बौद्धिक वर्ग विशेष रुप से, वैज्ञानिक दृष्टि

का हिमायती है ।

वर्तमान समाज में आस्था और अनास्था दोनों ही, सिक्के वे दो पहलुओं की तरह विद्यमान हैं । कुशल एकांकीकारों ने समाज की इस स्थिति का यथातथ्य चित्रण किया है तो दूसरी और रुढिभंजक युवा पीढ़ी में अनास्था के प्राण फूँके है । धर्म और सदाचार आज पंडितों के कथनानुसार पालन करने के साधन मात्र नहीं हैं । आज के वैज्ञानिक युग में हर तत्व की परीक्षा बुद्धिवाद की कसौटी पर की जाती है । युवा पीढी धर्म की परंपरागत आस्था को आँखे मींचकर ज्यों की त्यों गले उतारने की अपेक्षा आँख खोलकर अस्वीकार करने में विश्वास करती है । "समाज और साहित्य में, धर्म और सदाचार में उखाडने और बैठाने की क्रिया चल रही है । मनुष्य रुढियों के अंधकार से निकलकर विवेक के प्रकाश में आ रहा है । लोग समझ रहे हैं कि विगत युग में धर्म और सदाचार के नाम पर भयंकर अधर्म और दुराचार हो गये थे । इसलिये यह युग बुद्धिवाद की वकालत करता है ।"[99] धार्मिक मान्यताओं का एक ओर विरोध झलकता है तो दूसरी ओर एक अन्य धर्म की स्थापना का आग्रह भी दृष्टिगत होता है । साम्प्रदायिकता और धर्म की कट्टरता के परिणाम भारत के लिये अच्छे नही रहे हैं । अतः वर्तमान युग में एक ही धर्म की आवश्यकता अनुभव होती है जो सम्पूर्ण मानवता का धर्म है । इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में धर्म परंपरागत पैमाने ध्वस्त हो रहे हैं ।

धार्मिक समस्याओं का स्वरुप विवेचन :-

धर्म द्वारा मानव के क्रिया कलापों को नियंत्रित किया जाता है । व्यक्ति को अच्छे या बुरे परिणामों को भुगतना पड़ता है ऐसा विश्वास अदृश्यरुप से मानव मन तथा उसके व्यवहारों को नियंत्रित करता है । धर्म का अर्थ है 'धारण करना' । वैदिक साहित्य में भी वह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । धर्म की उत्पत्ति मानव के मन में प्रकृति के प्रति होने वाले भय तथा आश्चर्य से अपने आपको सुरक्षित करने के लिये हुई । लेकिन मार्क्सवाद के अनुसार धर्म कोई ईश्वरीय ज्ञान नही है । न ही वह किसी विशेष अति प्राकृतिक जगत का प्रतिबिम्ब है । अन्य चेतना जैसी ही यह एक विशिष्ट प्रकार की चेतना है । भारतीय जीवन में धर्म एक अलग सत्ता नहीं है। जीवन का ही एक अंग है । सभ्यता के विकास के प्रथम चरण से ही धर्म मानव के साथ जुडा हुआ है । मानव व्यवहार में उसके चिन्तन तथा मनन को धर्म हमेशा सब तरह से नियंत्रित करता रहता है ।

'हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य' की समस्या को हिन्दी एकांकीकारों ने 'सामाजिक पृष्ठभूमि' के अन्तर्गत विशेष सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया है । एकांकीकारों ने हिन्दू मुस्लिम दंगों के संदर्भ में बताया कि जनता की सांप्रदायिक भावनाओं को कुछ नेताओं ने अपने स्वार्थ की खातिर उभारा था। पाकिस्तान के निर्माण

तथा भारत द्वारा भेद-भाव रहित संविधान की स्वीकृति के बाद साम्प्रदायिकता की आंधी सदा के लिए थमने की आशा की जा रही थी । यह आशा फलवती न हो सकी अहिंसा के प्रबल समर्थक और प्रचारक राष्ट्रपिता कहेजाने वाले महात्मागांधी की नृशंस तथा कायरतापूर्ण हत्या के बाद भी वैमनस्य की समाप्ति न हो सकी । कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने साम्प्रदायिक विद्वेष से व्यथित होकर पहले ही लिखा था 'भारत का सबसे बडा दुखान्त है उसकी खतरनाक फूट और एक भाई का दूसरे भाई को मारना काटना । इस भयानक दुःखान्त ने, वर्तमान में एक विशाल जंगली पशु का आकार धारण कर लिया है।'[100] हमारी आपसी फूट और कलह ही हमारे पराभाव का कारण बने हैं । कार्लमार्क्स ने भारत की गुलामी के कारणों की विवेचना करते हुये लिखा था 'एक देश जो न सिर्फ मुसलमानों और हिन्दुओं, बल्कि कबीले और वर्ण-वर्ण में बंटा हुआ हो, एक समाज जिसका ढ़ांचा तमाम सदस्यों के पारस्परिक विरोधों और वैधानिक अलगावों पर आधारित हो ऐसा देश और ऐसा समाज क्या दूसरे द्वारा विजित होने के लिये ही नहीं बनाया गया।'[101] इस कडवी सचाई के बाद भी हमने अतीत से कोई सीख नहीं ली - ना ही इसके खतरों के प्रति हम आज भी सावधान हुये हैं । स्वाधीनता पूर्व के जातीय वैमनस्य और साम्प्रदायिक टकराहट को यदि अंग्रेजों की चाल मान लिया जाये तो आजादी के बाद के साम्प्रदायिक दंगो को क्या कहा जाए? क्या सत्ताकामी नेताओं ने अपने स्वार्थो की पूर्ति हेतु क्षेत्रीयता, जातीयता, धर्म और सम्प्रदायवाद का सहारा नहीं लिया है ? यह आशंका निर्मूल नहीं है कि दोनों समुदायों (हिन्दू-मुसलमान) के नेताओं ने अस्तित्व के लिए अपने संघर्ष में, हाल के वर्षो में सत्ता और प्रभुत्व प्राप्त करने के प्रयत्नों में इस लक्ष्य को अपने सामने नहीं रखा ।[102]

स्वतंत्रता प्राप्ति और पाकिस्तान के जन्म के तुरंत बाद जो भीषण समस्या सामने आयी थी, भट्टजी ने 'पिशाचों का नाच' एकांकी में इसे ही रखा है और समस्या का हल भी निर्दिष्ट किया है। हिन्दू जाति की ग्रहिका शक्ति नष्ट हो गयी है । उसे पुनर्जीवित करना ही होगा । ऐसा भट्ट जी का विचार है । अन्यथा देवों की यह जाति सदा-सर्वदा के लिए मिट जायेगी । देश कालानुसार शास्त्र का संशोधन और नये शास्त्र का विधान होना ही चाहिये । भट्टजी प्रश्न उठाते हैं कि ऐसी नारियॉ फॉसी लगाकर मर भी जायें तो क्या समस्या का समाधान हो जाता है । जो उन्हे मुसलमानों के पास ही छोड दिया जाय तो ये कल ही हिन्दू समाज के लिए शत्रु बन बैठेंगी और अपनी भावी संतान को ऐसी शिक्षा देंगी कि वह हर तरह से कमज़ोर हिन्दू जाति का नाश कर दे। ऐसी स्थिति में समाज को नष्ट होने से बचाना ही होगा । भट्ट जी अनिल के माध्यम से इस सामाजिक, धार्मिक समस्या का समाधान करते हुए कहते हैं - ' जमीन के अनुसार घर बनते हैं, पानी पर्वत के अनुसार अपनी आकृति बनाता है । हिन्दू धर्म में भी समय के अनुसार परिवर्तन होना चाहिए । हम लोग जीने के लिए पैदा हुये हैं, मरने के लिये नहीं । उठारह स्मृतियों के नियम कानून अठारह विभिन्न समयों में बनाये गये हैं ।

उनमें परिवर्तन हुये हैं । फिर क्या कारण है कि इस परिस्थिति का मुकाबला करने के लिये हिन्दू समाज में कोई परिवर्तन न हो ?विचार ही मनुष्य है, विचार ही समाज। विचारो में परिवर्तन करो, समाज में परिवर्तन होगा । जीवन ही धर्म है।'[103] अतः भारत विभाजन के समय उत्पन्न हुये उत्पात और मानव की क्रूरता, पाशविकता, धर्म की आड में उन्माद आदि पशुता का यथार्थ चित्रण है । यह अमानुषिक अत्याचारों का सिंहावलोकन कर हिन्दू समाज की दुर्बलता का उद्घाटन करता है । प्रस्तुत एकांकी देश की एक ज्वलंत समस्या को अंकित करती है । समकालीन देश की सामाजिक व्यवस्था में हिन्दू समाज पर मुस्लिम समाज द्वारा फैलाया गया आंतक नारियों तथा बच्चों पर किये गये आततयियों के अत्याचारों का सजीव चित्रण किया गया है ।

' निर्दोष की रक्षा' एकांकी में सेठ गोविन्ददास जी ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर हिन्दू मुस्लिम एकता का आदर्श प्रस्तुत किया है । शेरअफसनखाँ के शब्दों में लेखक ने भारत में होने वाले सांप्रदायिक झगड़ो की समस्या को हल कर दिया है । यथा " शेर अफसनखाँ जिस झगड़े का मजहब से कोई ताल्लुक नहीं, उसे मजहबी शक्ल दी गयी । बिना वजह तुम्हारी कुर्बानी माँगी गयी। मैं एक बेकसूर को इस तरह कुर्बान नहीं कर सकता, और इसके लिये इससे भी ज्यादा तकलीफें बर्दाश्त करने को तैयार हूँ ।"[104] संकुचित मनोवृत्ति के हिन्दू-मुस्लिम धर्म का ठीक अर्थ न समझने के कारण लड़ते हैं । साधारण झगडों को साम्प्रदायिक रुप दे दिया जाता है । दूसरे लोग स्वार्थवश हिन्दू-मुसलमानों को कैसे लडाते हैं, इस सब का प्रासंगिक रुप से इस एकांकी में विवेचन है ।

सन् 1947 के अगस्त महीने में अंग्रेजो ने भारत छोडने का निश्चय किया और भारत छोडने से पहले उन्होंने इसका हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रुप में बँटवारा कर दिया । भारत की राष्ट्रीय कॉग्रेस, मुस्लिम लीग के दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करती थी उसने अपना असाम्प्रदायिक रुप सदा अक्षुण्ण रखा । विभाजन का सबसे बड़ा अभिशाप जो हमें मिला, वह था साम्प्रदायिक विद्वेष, घृणा और उसके परिणाम स्वरुप दंगा । पश्चिम बंगाल और पूर्वी बगाल से लाखों की संख्या में अल्पमत वर्ग के लोग विस्थापित होकर भारत में शरणार्थी हुये। इस तरह भारत में शरणार्थियों की समस्या उपस्थित हो गई । इनके साथ पाकिस्तान में जो कुछ हुआ था, उसके कारण भारत में भी घोर प्रतिक्रिया हुई और साम्प्रदायिक दंगो की आग सारे देश में भड़क उठी, पशुता जो रुप दिखा रही थी, घृणा और क्रोध की जिस जहरीली फिजा में भारत का स्वतंत्रता संग्राम चला रहा था उसी की भूमिका में हिंसा और अहिंसा, पशुता और मानवता, क्रूरता और दया, लोलुपता और त्याग का दुघर्ष संघर्ष भी चल रहा था । उसी का यथार्थ चित्रण इस एकांकी

में है । साथ ही उस आदर्श का संकेत भी, जिसकी ओर आज की मानवता अग्रसर हो रही है ।

'तुफान से पहले' एकांकी में 'अश्क'जी ने इस सत्य का उद्घाटन किया है कि साम्प्रदायिक दंगो में जो पागलपन दिखाया करते हैं उनको धूर्त स्वार्थी नेता उत्तेजना की स्थिति में ले आते हैं और उनसे भयानक कृत्य करा लेते हैं। एकांकीकार 'अश्क' जी प्रेरित करते हैं कि जो लोग विवेकवान हैं, उनकादायित्व है कि वे सोचे कि इन दंगों को कैसे रोका जा सकता है। वह घीसू के बलिदान का हवाला से यह सुझाते हैं कि यदि हमें देश हित को ध्यान में रखकर घृणा भाव को दूर करना है साम्प्रदायिक दंगो का नामोनिशान मिटाना है तो कुछ लोगों को घीसू बन जाना होगा। साम्प्रदायिकता का रोग इतना भयंकर है कि एकाध के करने से कुछ होने वाला नहीं है इसके लिए एक क्रांति लानी होगी ताकि ये सब दादे, गुण्ड़े, धर्म और जात पांत के दर्प, गरीबों के खून चूसने वाले पूँजीपति, ये भोले भाले लोगों को लड़वाकर अपना उल्लू सीधा करने वाले नेता सब मिट जाएगें - एक नयी दुनिया बसेगी, जिसमें गरीबों का, मजदूरों का राज होगा जहॉ हिन्दू-मुसलमान न होगें, काले गोरे न होंगे, सब इंसान होंगे, भाई भाई होंगे।"[105] घीसू को इस सपने के पूरा होने का निश्चित विश्वास है । यह विश्वास कोरी कल्पना, हवा महल नहीं है । घीसू कर्तव्य निष्ठ, त्यागी है, आदर्शप्रिय कर्मयोगी है परन्तु वह जानता है कि उसका स्वर क्षीण है - अपने अपने स्वार्थो में लिप्त प्राणियों की वहशी आवाज़ में उसका स्वर मुखर नही पाता, परन्तु वह आशावादी है, अपराजेय है। उसकी जीत पारो और बक्शू हैं - उसका विजित दूर्ग भविष्य है। वह मरकर भविष्य को जीत लेता है क्योंकि समतल कर देने वाला जो तूफान आ रहा है। वह मात्र कल्पना नहीं, कार्य कारण परंपरा का वैज्ञानिक परिणाम है । सामाजिक चेतना के इस भव्य दृश्य और सामाजिक अंधेपन की इस तन्द्रा का चित्रण करते हुए, घीसू ऐसे चरित्र का निर्माण करके भविष्य के प्रति वर्तमान में संतुलन का संकेत देता है । घीसू उन सद् प्रवृत्तियो का प्रतीक है जो अपना बलिदान करके शत शत मुखी होकर उभरती हैं । वह दया, त्याग, अहिंसा, साम्प्रदायिक एकता और सहिष्णुता का प्रतीक है । प्रस्तुत एकांकी में 'अश्क' जी ने साम्प्रदायिकता की समस्या को उभारा है । 1947 में जब भारत का विभाजन किया गया तो यह आग भडक उठी थी सैकडों हिन्दू मुस्लिम इसकी बलि चढ़ गए यहाँ भी निर्दोष की बलि दी गई तथा विभाजन के दौरान कई ऐसी समस्याऍ उठ खडी हुई जिनसे हमें आज भी जुझना पड रहा है । आज भी समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है । भारत जैसे विविधता वाले देश से जहाँ कई मजहब के लोग एक साथ निवास करते है वहाँ छोटीसी भी चिनगारी उडी तो अग्नि प्रज्ञवलित होने का विभत्स ताड़व हो सकता है लेकिन एकांकी के माध्यम से 'अश्क' जी ऐसे विविधता वाले देशवासियों को हिदायत देना चाहते हैं कि हमारे आपसी मेलमिलाप से रहने में ही बुद्धिमता है और यह स्वयं हमारे हित के लिए भी है ।

एकांकीकार लक्ष्मीनारायण लाल ने धार्मिक सामंजस्य की प्रस्थापना ' जहाँनारा का स्वप्न' एकांकी में किया है । जहाँनारा मुसलमान होने पर भी बूँदी के राव राजा छत्रसाल से विवाह करना चाहती थी । वह कुरान और गीता को समान समझती थी । इस विचार को स्पष्ट करते हुये वह अपनी बाँदी से कहती है "जहाँनारा -- सिर्फ कुरान पढ़ना खतरनाक है। कुरान के साथ-साथ गीता पढ़ना हर एक शहंशाह को जरुरी है।" उसकी धारणा थी कि औरंगजेब केवल कुरान पढ़कर अपने को खूँख्वार मुसलमान समझता है, हिन्दुओं को काफिर समझता है, इन्सानियत पर कुफ्र ढाता है। परन्तु वह गीता पढ़ता तो हिन्दुस्तान को अपना वतन समझता । 'नूरजहाँ की एक रात' एकांकी में भी आपने धार्मिक समन्वय का प्रयत्न किया है । नूरजहाँ सब धर्मो को एकत्रित कर, बिखरे हुये मन को जोड़कर एक सुन्दर माला बनाना चाहती है । इस प्रकार उपर्युक्त एकांकियों के माध्यम से लक्ष्मीनारायण लाल जी का धार्मिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक सामंजस्य तथा एकता प्रस्थापित करने का उद्देश्य परिलक्षित होता है । राधाचरण गोस्वामी जी की 'बूढे मूँह मुँहासे' में भी धार्मिक समन्वय अर्थात् हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य का संकेत है । हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा रचित एकांकी 'मातृ मंदिर' में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया गया है ।

सेठ गोविन्ददास जी की 'ईद और होली' एकांकी साम्प्रदायिक समस्याओं पर आधारित है। एकांकी के माध्यम से एकांकीकार के हिन्दू-मुस्लिम के मध्य होने वाले संघर्ष को लिया है । आज साम्प्रदायिक समस्या हिन्दू-मुस्लिम के संघर्ष के रुप में अपना विकराल मूँह खोले बैठा है जिसकी आग में हिन्दुओं और मुस्लिम दोनों के परिवार निरन्तर जल रहें हैं । एकांकीकार ने इसकी गंभीरता को देखते हुये इसका प्रस्तुतीकरण प्रस्तुत एकांकी के माध्यमसे की है और हमें यह सोचने पर मजबूर किया है कि इनके आपसी झगडों की ठोस वजह क्या है? वह कौन से कारण हैं जिसके बलबुते पर हम एक दूसरें से पृथक हैं । सेठजी ने हिन्दू-मुस्लिम के नाम पर इस साम्प्रदायिक समस्या को उपस्थित करके उनका समाधान प्रस्तुत किया है । दोनों के बीच भिन्नता के कोई ठोस कारण नहीं हैं फिर भी दोनों में निरंतर संघर्ष हो रहे हैं क्यों ? इस सवाल का जवाब किसी के पास नहीं है । बच्चों में तो ईर्ष्या और द्वेष नाम की कोई चीज नहीं होती है । किन्तु वक्त के साथ उनके भीतर नफरत के बीज बो दिये जाते हैं । आज आवश्यकता इसी बात की है कि हम प्रस्तुत एकांकी के माध्यम से ही लेकिन हकीकत को जाने और उस पर अमल करें।

सेठ गोविन्ददास जी की ' शिवाजी का सच्चा स्वरुप' एक चरित्र प्रधान एकांकी है । प्रस्तुत एकांकी में शिवाजी की नैतिक दृढ़ता और सच्चे स्वराज्य का आदर्श साकार हो उठा है । गोविन्ददास जी एकांकी में

शिवाजी के चारित्रिक वैभव का प्रदर्शन करके उनके माध्यम से यह संदेश परिचालित करना अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं कि सच्चे स्वराज्य की स्थापना हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य से ही संभव है । आधुनिक नेताओं का जीवन आज भ्रष्ट हो गया है । शिवाजी के चरित्र का उद्घाटन करके उनके माध्यम से आधुनिक नेताओं के जीवन की स्वच्छता की ओर भी संकेत किया है । शिवाजी हिन्दू और मुस्लिम प्रजा में कोई भेद नहीं समझते थे । उनकी सेना में मुस्लिम सैनिक भी थे । शिवाजी यद्यपि हिन्दु थे किन्तु फिर भी इस्लाम धर्म उनकी दृष्टि में पूज्य है । शिवाजी ने कभी किसी मसजिद की दीवार में बाल बराबर दरार भी न आने दी । यदि कहीं कुरान की पुस्तक मिली तो उसे सिर पर चढा उसके पन्ने को भी किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये बिना मौलवी की सेवा में भेज दिया । दोनों के प्रति दृष्टिकोण समान था । अतः यहाँ साम्प्रदायिकता के विरुद्ध धार्मिक उदात्तता का उपदेश दिया गया है ।

' चमत्कार' एकांकी में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी ने धार्मिक चमत्कारों के कारण समाज में परिव्याप्त अंधविश्वासों का पर्दाफाश करके यह प्रतिपादित किया है कि धर्म के नाम पर जान देने को तत्पर रहने के बावजूद भी धर्म में आम जनता की दिलचस्पी ऊपरी तौर पर ही है । एकांकी में हास्यपूर्ण पृष्ठभूमि में हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि पात्रों को लेकर धार्मिक अंधविश्वास को व्यक्त किया गया है । प्रस्तुत एकांकी आस्था और विश्वास की महत्ता को स्थापित करता है तथा धार्मिक रुढ़ि-ग्रस्तता, छिछले ज्ञान और धर्मान्धता से वशीभूत अधकचरे धर्म के हिमायती प्रतिनिधियों का आपस में व्यर्थ का झगडा दर्शाया है । प्रस्तुत एकांकी एक ओर तो सामान्य लोगों की ज्ञानपूरित छिछली धार्मिकता पर तीखा व्यंग्य है तो दूसरी ओर गढ़वाली दवाईयॉ बेचने वाले की धूर्तता का मोहक चमत्कार । एकांकी के माध्यम से 'अश्क' जी इस सत्य को उद्घाटित करते हैं कि पूरा समाज धर्मान्धता में इस कदर घिर गया है कि उसे इससे बाहर आना नितान्त आवश्यक है । धर्मान्धता की दीवारों को तोड फेंकने के लिये आस्था विश्वास को जागृत करना निःसंदेह आज प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। धर्म के आधार पर चलकर ही समाज की उन्नति संभव है । केवल हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि दायरे में बंधे रहना ही धार्मिकता नही । धार्मिक रुढियों को तोड़ना होगा सामाजिक कल्याण के लिये यह अत्यावश्यक भी है । एकांकी के अन्तर्गत 'अश्क' जी ने बडी कुशलता से व्यंग्य हास्य द्वारा सत्य को उद्घाटित किया है । वे अपने उद्देश्य में तभी पूर्णतः सफल होंगे जब हम उनकी अर्थात् प्रस्तुत एकांकी का तात्पर्य समझेंगे ।

'भगवान-मनु' नामक एकांकी में मनु के त्यागी और तपस्वी स्वरुप को चित्रित करने में मिश्र जी को पर्याप्त सफलता मिली है । उनकी साधना और तपस्या का एकमात्र उद्देश्य लोकरक्षा है । वे कहते हैं, "लोक

की रक्षा भगवान मैं करु । इस सृष्टि पर जब संकट आये, प्रलय से मैं इसे बचाऊं देव! लोक की रक्षा और सेवा का पद मैं चाहता हूँ, इन्द्र का पद किसी दूसरे तपस्वी को देना पितामह !" प्रस्तुत एकांकी में मिश्र जीने मनु के चरित्र द्वारा लोकहित की बात कही है। आपका संदेश है कि संघर्ष और मुश्किल क्षणों में भी व्यक्ति को धैर्य के साथ अपने मार्ग से विचलित हुये बिना सदैव संघर्षरत होना चाहिये बल्कि अपने सुख-दुःख की परवाह किये बिना लोकहित अर्थात् परोपकार में जुट जाना ही श्रेष्कर और यही मानव धर्म भी है। श्रद्धा मनु के लिये देवलोक का त्याग करती है । श्रद्धा के इस त्याग और प्रेरणा से मनु पुनःकर्म में रत होती हैं और इस प्रकार नवीन सृष्टि आरंभ होती है । श्रद्धा कहती है "एक मरने वाले के लिये जीना अनेक न मरने वालों के लिये जीने से अच्छा है ।" श्रद्धा के इस कथन द्वारा भी महान संदेश प्रतिपादित करने में मिश्र जी सफल रहे हैं । अतः यहाँ आपने मनु और श्रद्धा के चरित्रों द्वारा त्याग, परोपकारिकता, उदारता, सहिष्णुता आदि गुणों को संप्रेषित किया है । युग और प्रजा के अनुकूल चार वर्ण और चार आश्रमों में गुण और कर्म के अनुसार पहले अपने को और फिर प्रजा को बाँधना धर्म-विधान का आधार होना चाहिए क्योंकि जहां नियम नहीं हैं, बंधन नहीं हैं, वहां मनुष्य भी वन का पशु है । अतः मिश्र जी उक्त अवतारणा के साथ ही साथ यह चाहते हैं कि इस देश के मनुष्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र से संसार भर का आदर्श बन जायें । कोई भी कर्म जो प्राणियों की करुणा में उनके हित के लिये किया जा रहा हो, वही सबसे बड़ी तपस्या है और प्राणी दया में भी सभी वेद, धर्मशास्त्र और संहिता हैं ।

एकांकियों में निहित मनोवैज्ञानिक समस्यायें:

मनोविज्ञान ने समाज और व्यक्ति की अंतश्चेतना को नये ढंग से हमारे समाने रखा है। मनोविश्लेषणवादी फ्रायड, एडलर और युंग ने चेतन, अवचेतन और अचेतन मन की मायावी सृष्टि से हमें परिचित किया है। वर्तमान हिन्दी एकांकी साहित्य पर फ्रायड एवं युंग मनोविज्ञान का विशेष प्रभाव रहा है। फलतः उसमें निम्न विशेषताएँ नजर आती हैं-

1. उसमें व्यक्ति की दमित वासनाओं का विस्फोट मिलता है।
2. उसके कतिपय चरित्र अन्तःमुखी तथा आत्मकेन्द्रित हैं।
3. उसमें EGO OR ID का संघर्ष अंकित है।
4. यौन समस्या का भी उसमें निरुपण है।

हिन्दी में विष्णु प्रभाकर का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। उन्होंने स्वय लिखा है-"सामाजिक, घरेलू या राजनैतिक कैसा भी कथानक हो, मैं उसका ताना-बाना मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर ही बुनता हूँ। मेरे लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अर्थ है कि मनुष्य जो कुछ दिखाई देता है केवल वही नहीं है, उसके अतिरिक्त वह कुछ भी है, बल्कि वह 'और कुछ भी' ही अधिक है।"[106] 'उपचेतना का छल', 'मैं दोषी नहीं हूँ',

'माँ-बाप' तथा 'दस बजे रात' आपके उल्लेखनीय एकांकी हैं। 'उपचेतना का छल' में मानव की लीलामय अन्तश्चेतना के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है। 'मैं दोषी नहीं हूँ' में अपराधी मानस का रहस्योद्घाटन हुआ है। 'माँ-बाप' में मनोवैज्ञानिक धरातल पर समस्या को उठाया गया है। 'दस बजे रात' में मानसिक कुंठाओं का अंकन है। श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी के 'सुहागबिन्दी' में स्त्री मन की गुत्थियों का वर्णन है। 'दूसरा उपाय ही क्या?' स्त्री मन में उठने वाले संघर्ष को प्रतिपादित करता है। 'वह फिर आयी थी' में कविरत्न की दमित प्रेमाकांक्षा को मनोरमा के रुप में साकार किया गया है। 'परदे का अपर पार्श्व' में रमेशचन्द्र के दमित प्रेम को छोटी-छोटी घटनाओं के माध्यम से उभारा गया है। आपकी एकांकी कला के बारे में श्री नगेन्द्र ने लिखा है - "ये सूक्ष्मतत्व को पकडते हैं और उसको मनोविज्ञान की सहायता से तीक्ष्णतर करते हुये अत्यंत कौशल के साथ चरम-सीमा तक ले जाते हैं।"[107] उन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर पात्रों के अचेतन मन में उतरकर उनकी दमित भावनाओं को कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। श्री लक्ष्मीनारायण लाल ने एकांकी 'मै आइना हूँ' में युवा शीबू की कुण्ठा, निराशा की गुत्थियों का रहस्योद्घाटन कर एकांकी को प्राणवन्त बना दिया है। सत्येन्द्र शरत् कृत 'मन की साध' में माता की अतृप्त आकांक्षा का मनोवैज्ञानिक चित्र दृष्टव्य है। श्री अमृतलाल नागर कृत 'चक्करदार सीढ़ियाँ' तथा 'अंधेरा' में पागलों की मानसिक स्थिति का निरुपण है।

हरिश्चंद्र खन्ना ने अपने मनोवैज्ञानिक नाटकों में मनुष्य के उपचेतन के विश्लेषण का प्रयत्न किया।[109] 'मुर्दे जागते हैं' तत्सम्बंधी आपका उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक एकांकी है। श्री सेठ गोविन्ददास ने अनेक मनोवैज्ञानिक एकांकियों का सर्जन किया है। 'फाँसी' आपका भावात्मक मनोवैज्ञानिक एकांकी है। 'मानव-मन' में यह स्पष्ट किया गया है कि सहिष्णुता एवं कष्ट सहने में अति होती है तो मनुष्य आदर्श छोड यथार्थ का पल्ला पकड लेता है। मृत पति के साथ जीवित पत्नी कब तक जल सकती है? इसका मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत एकांकी में चित्रित है। 'अधिकार लिप्सा' में व्यक्ति की अधिकारवृत्ति को स्पष्ट किया गया है। 'निर्माण का आनन्द' में नारी मनोविज्ञान का अंकन है। श्री रामकुमार वर्मा कृत 'रजनी की रात' में नारी मनोभावों का मनोवैज्ञानिक चित्र है। श्री उदयशंकर भट्ट ने अपने एकांकी 'समस्या का अंत' में विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'आदिमार्ग', 'पर्दा उठाओ', तथा 'कइसा साब कइसी आया' नामक मनोवैज्ञानिक एकांकी लिखे। 'आदि मार्ग' में रानी और राजा के आत्ममंथन के साथ-साथ उनके पतियों की भी मनःस्थिति का आकलन एकांकी में किया है। 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' मे कलाकारों की मानसिक तनाव चित्रित है। 'कइसा साब, कइसी आया' में आया की दमित कामलोलुपता को प्रकट किया गया है। श्री भुवनश्वर पर 'फ्रायड मनोविश्लेषण' का विशेष प्रभाव पडा। उनकी रचनाओं में पात्रों की यौन क्षुधा मुखर हो उठी है। 'एक साम्यहीन साम्यवादी', 'शैतान', 'प्रतिभा का विवाह' तथा 'रोमांच

रोमांस' में काम की समस्या उठाई गई है। भगवती चरण वर्मा कृत 'मैं और केवल मैं' में पुरुष के अहं का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। श्री प्रभाकर माचवे ने अपने एकांकी में मानव हृदय की निगूढतम गुत्थियों का विश्लेषण किया है। 'पागलखाने' इसका उल्लेखनीय उदाहरण है।

'नहीं का रहस्य' में प्रोफेसर हरिनारायण की मनोदशा का चित्रण रामकुमार वर्माजी ने बडी कुशलता के साथ किया है। यह एक यथार्थवादी एकांकी है जिसमें जीवन की समस्या को यथातथ्य उभारा है। यह एक ऐसे प्रोफेसर की जीवन घटना है जो संकोचवश अपने विवाह के लिए 'नहीं' कहने के कारण आजीवन अविवाहित रहते हुये कष्ट भोगता है। वर्माजी ने अपने पात्रों के मनोभावों का स्वाभाविक विकास किया है। पात्रों की मानसिक उथल-पुथल से घात-प्रतिघात के वाक्यों का स्फुरण स्वयं ही होता चलता है। बीच-बीच में चुभते हास्य-व्यंग्य के छींटे उनकी यथार्थवादी जीवन-दृष्टि को स्वाभाविकता की ओर अग्रसर करते हैं। इस प्रकार लेखक ने इस संवेदना को उभारकर एक प्रोफेसर का तनिक से संकोचवश आजीवन अविवाहित रहने की घटना को नाटकीय मोड़ देकर यथार्थवादी दृष्टि प्रदान की है जो पाश्चात्य मनोविश्लेषणात्मक जीवन-दृष्टि का प्रतिफलन है।

'पृथ्वीराज की आँखें' एकांकी में यथार्थवादी जीवन-दृष्टि प्रदत्त करने के लिये डॉ. वर्मा ने पाश्चात्य मनोविश्लेषणात्मक जीवन-दृष्टि को अपनाया है, क्योंकि संस्कार और प्रभाव संघर्ष से पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व पैदा हो जाता है जिसके फलस्वरुप उसे मनोग्रस्तता घेर लेती है। व्यक्तिमात्र की इसकी मनोग्रस्तता से तादात्म्य स्थापित करने के लिए ही आज नाटक जीवन की स्वाभाविकता और यथार्थता के अधिक निकट आ पहुँचा है। उसमें पात्र-संघर्ष और मानसिक द्वन्द्व अधिक हो गया है। पात्रों के मनोविज्ञान में संघर्ष की अत्यन्त शक्तिशाली प्रेरणा उसमें समा गयी है।[110] इसका कारण आजकल के जीवन में समाया हुआ वैषम्य है। आज जीवन में - भिन्न परिस्थितियाँ अनेक घटनायें, अज्ञात मन के गुप्त रहस्य और विलक्षण कुण्ठायें मानसिक असाम्य के कारण विभिन्न बन गया है। प्रायः देखने में आ रहा है कि हमसे बहुत से मनुष्यों के व्यक्तित्व आवरणों में छिपे हुये हैं। इसलिये उनकी वास्तविकता को पा सकना कठिन-सा हो रहा है, परन्तु मन की बात हमेशा के लिये छिपाये रखना संभव नहीं हो सकता। फलस्वरुप इन रहस्यपूर्ण व्यक्तियों से भी कभी-कभी ऐसा व्यवहार हो जाता है तथा उनके मुख से ऐसी बात निकल पड़ती है कि एकांकीकार की कल्पना के लिये एक बहुमुखी व्यक्तित्व वाले चरित्र का निर्माण संभव हो सकता है। फलतः यह एकांकी पृथ्वीराज की मानसिक अवस्थाओं का यथातथ्य चित्रण प्रस्तुत करती है।[111] "वही रचना यथार्थवादी होने का गौरव प्राप्त कर सकती है, जिसमें मानव जीवन की परिस्थितियों तथा मानव-मनोभावों के द्वन्द्व से

उभरते हुये जीवन के पूर्ण सत्य का चित्रण हो।"[112]

हिन्दी साहित्य तथा साहित्यकारों की नाना समस्याओं को लेकर भी हिन्दी एकांकीकारों ने अनेक एकांकियों की रचनाएं की है। डॉ. रामकुमार वर्मा जी के दो एकांकी 'कलाकार का सत्य' तथा 'प्रसाद की कला' में साहित्य के दो पक्षों पर प्रकाश डाला है। 'कलाकार का सत्य' एक महाकवि से सम्बन्धित है, जिसकी साहित्य साधना का समाज ने कोई मूल्यांकन नहीं किया है किन्तु जिसे तुलसी की निस्पृह साधना से सान्त्वना प्राप्त होती है। 'प्रसाद की कला' में प्रसाद के काव्य गौरव का प्रतिपादन है। अश्क का 'पक्का गाना' एक साहित्यिक वैराइटी है, जिसमें फिल्म जगत्, भारतीय थियेटर तथा रेडियो की व्यंग्यात्मक आलोचना प्रस्तुत की गई है, जिनमें पक्के गाने की तरह ऊँची कला के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। गणेशप्रसाद द्विवेदी के 'गोष्ठि' में आधुनिक तरुण हिन्दी लेखकों मुख्यतः कवि तथा कहानीकारों, कॉलेज के नवयुवक लेखकों, छात्र छात्राओं, वैदेशिक शिक्षा पद्धति, विदेशी भाषा तथा साहित्य की गुलामी पर तीखा व्यंग्य किया गया है। यह एक साहित्यिक गोष्ठि का अतिरंजित और हास्यास्पद चित्र है जिसमें अन्य कमजोरियों के साथ नाट्यकार ने हिन्दी गोष्ठियों में सभापतियों का विलम्ब से आना, छात्र-छात्राओं का उतावलापन, कृत्रिम श्रृंगार, साहित्यिक होने का झूठा दावा, कवियों का छंद भाषा, पिंगल तथा विचार प्रतिपादन में पूर्ण स्वतंत्रता, अंग्रेजों की गुलामी, हमारी जातीय हीनता, लेखकों की अभ्यास न्यूनता, कॉलेज नवयुवकों की विश्रृंखलता, वासना लोलुपता, नैतिक हीनता लक्ष भ्रष्टता, गोष्ठियों में होनेवाले नाज नखरे, हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी का वाद विवाद आदि अनेक कमजोरियों की ओर संकेत किया है। आज के हिन्दी साहित्य का यह सजीव चित्र है। पं. उदयशंकर भट्टजी का 'नया नाटक' एक नाट्यकार के दैनिक जीवन की उथल पुथल, गरीबी, आर्थिक कष्ट, पत्र संपादकों के तकाजे, पीडा को मुखरित करता है। पूँजीवाद के शिकंजे में फंसकर साहित्यिकों का शोषण हो रहा है, यही चित्रित किया गया है। 'विस्फोट' में भट्टजी ने छायावादी कवि, आलोचक, गांधीवाद तथा प्रगतिवाद आलोचकों की छीना झपटी का चित्र खींचा है। उन लेखकों पर व्यंग्य है जो शब्दों को तोड-मरोडकर निरर्थक कविताएँ रचते हैं, और भाव या प्रेरणा न होने पर भी शब्दों से खिलवाड करके पाठक, आलोचक और सम्पादक को चकमा देते हैं।